प्रथमवार

सावन तीज, १९९३

मूल्य १।)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

निवेदन

अपने मध्यकालीन वीरों की एक झलक पाने के लिए पाठक "सिद्धराज" पढ़ेंगे तो सम्भवतः उन्हे निराश न होना पड़ेगा।

कथाकार अपने पाठकों को उत्सुक बनाये रखता है। परन्तु

'आगया प्रसंग वह भाग्य या अभाग्य से'

जैसी पंक्तियाँ लिखना आरम्भ में ही आगे का आभास दे देना है। लेखक पाठकों की उस उत्सुकता का अधिकारी नहीं। उसके अनुरूप प्रतिदान कलाकार ही दे सकते हैं। लेखक को तो यही सन्तोष का विषय है कि उसके पाठक उत्सुक नहीं, आश्वस्त हो रहे।

पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक हैं। परन्तु उनका क्रम संदिग्ध है। इसलिए लेखक ने उसे अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है। जो अंश काल्पनिक हैं, वे आनुषंगिक हैं और उनसे ऐतिहासिकता में कोई बाधा नहीं आती।

पुस्तक की सामग्री के लिए लेखक मान्यवर महामहोपाध्याय श्रीगौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा के निकट विशेष रूप से ऋणी है। श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने सिद्धराज-सम्बन्धी

अपने तीन उपन्यास भेज कर लेखक को सहायता दी है। गुजराती न जानते हुए भी, उन्हे पढ़कर लेखक ने जो आल्हाद पाया है, उसीको वह अपने इस काम में लगने का बड़ा लाभ मानता है। सचमुच श्लाघनीय हैं वे रोमांस। मैं तो 'रोमांस' न कह कर 'रोमांच' कहूँगा!

रानकदे के सम्बन्ध की विशेष जानकारी लेखक को अपने दूसरे गुजराती बन्धु श्री एस० पी० शाह, आई० सी० एस० के अनुज श्री एच० पी० शाह एडवोकेट से प्राप्त हुई है।

श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य के अँग्रेजी ग्रन्थ 'मध्य-युगीनभारत' के हिन्दी अनुवाद से भी लेखक ने लाभ उठाया है।

लेखक हृदय से सब सज्जनो का आभारी है।

सात आठ वर्ष पहले पुस्तक का आरम्भ हुआ था। किन्तु दो सर्ग के अनन्तर कुछ कठिनाइयों के कारण काम रुक गया। जिन बन्धुओं के आग्रह से आज यह पूरा हो सका है, उनसे तो यही आशा है कि लेखक उनके प्रति नहीं, वे ही लेखक के प्रति कृतज्ञ हों।

चिरगाँव,

गुरु पूर्णिमा–'९२.

श्रीगणेशाय नमः

सिद्धराज

मङ्गलाचरण

आप अवतीर्ण हुए दुःख देख जन के,
भ्रातृ-हेतु राज्य छोड़, वासी बनें वन के;
राक्षसों को मार भार मेटा धरा-धाम का,
बढ़े धर्म, दया-दान-युद्ध-वीर राम का।

प्रथम सर्ग

संध्या हो रही है। नील नभ में, शरद के
शुभ्र घन तुल्य, हरे वन में, शिविर के
स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का
अरुण प्रकाश पड झलक रहा है यों,
छलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण ज्यों।
फहर रहा है केतु उसपर धीरे से,
वनके व्यजन राजमंगल-कलश का,
जिसमें न टूट पड़े कोई विघ्न-मक्षिका,
भंग करने को रस-रंग कभी उसका!

अश्विनी के ऊपर सुभव्य भाव भरणी
कृत्तिका-सी, वामियो के ऊपर चढ़ी हुई
वामाएँ अनेक, दीर्घ शूल लिए दाहिने
हाथ में, लगाम धरे बाँये हाथ में, कसे
क्षीण कटि जटित विचित्र कटि-बंधों से ,
पीठ पर बाल छोड़े ढाल के-से ढंग से ,
हैम शिरस्त्राण बाँधे, मोतियो की कलगी
जिन पर खेलती है स्वच्छ गुच्छरूपिणी ;
कंचुक-कवच सब एक ही-से पहने ,
गहने है—बेंदी, कर्णफूल, हार, किंकणी ,
कंकण करो में और नूपुर पदों में है ,
शौर्य-वीर्य-साहस की प्रतिमा सजीव-सी ,
मंदिर-समान उस सुन्दर शिविर की
करती है मंडल बनाकर परिक्रमा !

स्वप्न नहीं, सत्य। किन्तु गत वे दिवस हैं ;
बात यह विक्रमीय द्वादश शताब्दि की ।
वामा-व्यूह आज हमें जान पड़े सपना ,

देश था स्वतन्त्र तब, राजा आप अपना ।

जननी प्रसिद्ध सिद्धराज जयसिंह की ,
मीनलदे नाम और काम शुभ जिनका ,
सोमनाथ जाती हुई मार्ग में हैं ठहरी ।
बाहर अपूर्व राज-वैभव-विकास है ,
गज-रथ-अश्वमयी सेना बहु साथ में ।
भीतर परन्तु उदासीनता की मूर्त्ति हैं
सोलंकी-शशांक स्वर्गवासी कर्णदेव की
विधवा वे वर्षीयसी, त्यागिनी, तपस्विनी ;
बैठी हैं अकेली, खड़ी आड़ में हैं दासियाँ ।
शान्त-कान्त-रूप, मुख प्रौढ़ पक्व बुद्धि से
दीप्त यथा दीप, सौम्य नासा शिखा-रूपिणी ।
सन्ध्योपासना में प्रभु और निज पति का
करती है स्मरण सदा वे शरणागता ।
गूँज उठती है गज-घंटा ध्वनि बीच में
बाहर से आकर, परन्तु नहीं टूटता
ध्यान जा लगा है पतिदेव में जो उनका ।

नीचे बैठ ऊपर को देख कहती है वे—
"छोड़ा तीन वर्ष का था नाथ, जिसे तुमने
और हतभागिनी को छोड़ा यहाँ जिसके
कारण, तुम्हारा जयसिंह वही अधुना
हो गया युवक, इस योग्य—निज राज्य जो
आप ही सँभाले और पाले प्रजा प्रीति से,—
नीति से, उचित रीति रक्खे, भीति छोड़ के
कर सके योग्य व्यवहार शत्रु-मित्र से।
रोता रहा मेरा मृदु माँ का मन, फिर भी
मैंने दृढ़ होकर दिलाई उसे शिक्षा है;
दे जो सकती थी एक नारी, कुल-दीक्षा दी।
जानेगी परिस्थिति परीक्षा करके उसे,
प्रस्तुत है प्रभु की कृपा से वह सर्वदा।
स्वर्ग से हे स्वामी, तुम आशीर्वाद दो उसे,
जिससे तुम्हारा सुत संतत सफल हो;
जा रही हूँ नाथ, सोमनाथ यही माँगने।"

कहते हुए यों, भक्ति-भाव से भरी हुई,

पृथ्वी पर माथा टेक रानी नत हो गई ।
उज्ज्वल सजल तारा, नाति शुभ्रवसना ,
मूर्तिमती मानों सौम्य सन्ध्या वहाँ प्रकटी ।

उठकर राजमाता बैठीं स्वस्थ भाव से ,
"कौन है ?" पुकारा, दौड़ आईं बहु दासियाँ ,
"आज रात्रि-यात्रा नहीं होगी, यह कह दो ,
श्रान्ति मेटें सैनिकाएँ जाकर शिविर में ।"
कहके "जो आज्ञा" एक किंकरी चली गई ।

शब्द हुआ सहसा—"दुहाई राजमाता की !"
चौंक उठीं और बढ़ीं तत्क्षण वे द्वार की
ओर, कुछ सैन्यजन एक बली बाल को
घेरे लिए आ रहे थे और माता उसकी
देती थी दुहाई—"यह कैसी अनरीति है !"
बोली राजजननी—"बुलाओ इन्हें, कौन है ?"
लाये गये माता-पुत्र दोनों झट सामने ।
बोला एक सैनिक कि "ये है राजविद्रोही ।"

"राम-राम !" बोली वह नारी घृणा-भाव से ।
"तो फिर तुम्हें ये घर लाये क्यो, तुम्हीं कहो ,
सच बतलाना ।"
"देवि, मै हूँ एक क्षत्राणी ,
जनती है जूझने के अर्थ ही जो पुत्र को ।
मृत्यु-भय से भी फिर झूठ क्यों कहूँगी मै ?
विधवा हूँ, जीवन का मोह नहीं मुझको ।
आई दूर से हूँ पुण्य तीर्थ करने यहाँ ,
पाप क्यों करूँगी झूठ कह कर आप से ?"
"रहती कहाँ हो ?"
"उस विश्रुत जुझौती में
वेत्रवती-तीर पर, नीर धन्य जिसका ,
ंगा-सी पुनीत जो, सहेली यमुना की है ;
किन्तु रखती है छटा दोनो से निराली जो ।
जिसमें प्रवाह है, प्रपात और ह्रद है ;
काटके पहाड़ मार्ग जिसने बनाये हैं ;
देवगढ़-तुल्य तीर्थ जिसके किनारे हैं ।
देवश्री मदन वर्मा सदन सुकर्मों के

राजा है हमारे, राजधानी है महोवे में।

वीर-गति पाई जब मेरे शूर स्वामी ने,
मेरा यह बेटा तब दुग्ध-पोष्य शिशु था।
सिहर उठी है अहा! आप, दया-मूर्त्ति हैं;
अनुचित लाभ, किन्तु आपकी दया का मै
लेना नहीं चाहती हूँ कह कर बाते वे।
पाला इसे मैने, किन्तु अवला थी, इससे
आँखों से हटा सकी न दूर, तो भी गाँव में
पंडित हैं एक, वे पुरोहित हमारे है,
उनसे दिलाई इसे शिक्षा निज धर्म को,
सीखा कुल-कर्म ज्ञाति वन्धुओ में इसने।

अब इस योग्य हो गया है यह, अपनो
सेवा करे अपित स्वदेश को, स्वराज्य को;
किन्तु तीर्थ-यात्रा करने का मुझे इच्छा थी।
व्रज तो हमारे प्रान्त का ही प्रतिवेशी है,
जाके वहाँ इच्छा हुई—द्वारका भी जाऊँ मै,

माखन चुरा कर हमारे हरि भाग के
राजा बन बैठे जहाँ !"
नारी भक्ति-गद्गदा
आँखें पोछ मानो साँस लेने लगी रुक के।
मानस तरंगित था राजजननी का भी,
किन्तु हँस बोलीं वे कि "गोकुल की गोपी-सी
आई तुम खोजने को चित्त-चोर अपना,
किन्तु याद रखना, यहाँ भी है सपत्नियाँ !"
"देवि, मेरे हरि पर स्वत्व नहीं किसका ?
चाहे जहाँ विचरें-रहें वे, मौज उनकी।
किन्तु प्रार्थना है यही, रक्खे सुध सबकी;
और इस जन की भी संग-संग सबके।
हरि के हृदय हर, सोमनाथ भेटने
जा रही थी, किन्तु मिले बहु जन मार्ग में,
दर्शन बिना ही फिरे आ रहे थे दुःखी जो।
जैसे किसी वृक्ष पर पक्षी दूर दूर से
उड़कर आश्रयार्थ आवें, किन्तु देख के
लिपटा विशाल एक अजगर उससे,

भागे सब भीत होके ! ज्ञात हुआ पूछा जो ,
राजकर लगता है यात्रियों से, उसको
दे जो नहीं सकते हैं, लौटा दिये जाते हैं—
दर्शन विना ही । यह सुन कर सहसा
बोली मै, 'यहाँ भी क्या निपूता राजकर है ?'
शान्ति-मूर्ति आप भ्रू चढ़ावें नहीं, सोच ले ,
राज का या कर का विशेषण निपूता है ।
पुत्रवती शत्रु को भी ऐसा शाप देगी क्या ?
मेरे पुत्र ने भी कहा—'ईश पर भी यहाँ
राज्य ने किया है अधिकार मानो अपना !'
उस समुदाय में था गुप्तचर आपका ;
वह कुछ इससे विवाद करने लगा ।
घेर हम दोनो यहाँ लाये गये अन्त में ;
दीजे योग्य आज्ञा आप, आपकी विजय हो !"

क्षण भर मौन रहीं रानी स्तब्ध भाव से ,
मानों किसी भावी भावना से हुई भाविता ।
बोलीं फिर नारी से कि "मुक्ति मिली तुमको ;

किन्तु यदि सच्ची तुम पुत्रवती माता हो ,
तो मनाओ, मेरा पुत्र पावे पुत्र वैसा ही ।"
"देवि, मेरे बच्चे को जिन्होंने यों बचाया है ,
प्रार्थना करूँगी क्यो न पुत्र-हेतु उनके ?
माँगूँगी प्रथम यही जाके सोमनाथ से ।"

"किन्तु अब सोमनाथ जाना नहीं होगा माँ ।"
"जाना क्यों न होगा लाल ?" बाल चुप हो रहा ।
राजजननी ने अब देखा उसे ध्यान से ।
सुन्दर युवक बाल निर्भय खड़ा था यों ,
गढ़कर मानों उसे विधि ने बनाया है ।
बोली राजमाता, "भद्र, जाओगे न क्यों वहाँ ?"
"देवि, क्षमा चाहता हूँ, दर्शनार्थ जिसके
देके कुछ रौप्य-खंड आज्ञा-पत्र लेना हो ,
नन्दीश्वर है या वह वन्दी तुच्छ नर का—
राजा या पुजारी फिर कोई वह क्यों न हो ?
मेरे चित्रकूट ही में मेरे राम आये थे ,
मेरे शिवशंकर भी मेरे घर आयँगे ।"

"देना नहीं होगा तुम्हें राजकर, उलटा
दूँगी पुरस्कार तुम्हें मै सौ स्वर्ण-मुद्राएँ ।"
"आपको दया है देवि, किन्तु मेरी माता ने
आप अपना ही सब द्रव्य किया दान है ;
आपकी उदारता के भागी भूरि भूरि हैं ।"
"क्या तुम्हारे अर्थ कुछ रक्खा नहीं माता ने ?"
"देवि, मैने रक्खा कुल-मान-धन इसका ,
और पुरखों की धरा धन्य धान्य-जननी ।
धन तो हमारे महाराज के निधान में
इसके अपेक्षा-योग्य रक्षित यथेष्ट है ;
पारस प्रसिद्ध है महोवे के महीपों का ।"
"किन्तु जयसिंह के भी कोप में कमी नहीं ,
चाहो तो बनाऊँ मै सहेली तुम्हे अपनी ,
पुत्र को तुम्हारे उच्च सैन्य-पद दूँ अभी ।
गर्व नहीं करती हूँ, मेरे जयसिंह की
समता करे जो आज, ऐसा कौन राजा है ?
पृथिवी पृथुल, और पार्थिव अनेक है ,
कोई देव और कोई दैत्य होंगे उनमें ;

किन्तु मनुष्यत्व मेरे पुत्र का ही भाग है ;
क्षुद्र अमरत्व मृत रूप है नरत्व का ,
और प्रभुता तो असुरत्व में भी होती है ।"
"जैसे न हो, थोड़े वही लाल ऐसी माई के ।
सेवा में रहे जो आपके-से सेवनीयों की ,
ईर्ष्या करने के योग्य उनका सुकृत है ।
आकर्षण किन्तु जन्मभूमि का प्रबल है ।
देवि, वह बन्धन भी है सम्बन्ध सबका ।"
"किन्तु यह देश तो है ऐसा, जहाँ ब्रज को
छोड के तुम्हारे भगवान भी पधारे थे !"
"देवि, वे हमारे ही नहीं थे, आपके भी थे ।
मानती हूँ यह भी मैं, बाहर निकलके
ब्रज के गोपाल द्वारका के धनी होते हैं ।
होती घर बैठने से उन्नति नहीं कभी ;
विश्व परिवार है उदार वृत्तवालों का ;
राम की अयोध्या सदा राम के ही साथ है ।
तो भी देवि, सेवाएँ हमारी, जो नगण्य हैं ,
अर्पित उन्हीं के लिए हो चुकी हैं पूर्व ही ,

पीढ़ियों से पा रहे हैं वृत्ति हम जिनकी ।
फिर भी सदैव शुभ कामना करूँगी मैं
आपकी, न भूलूँगी कदापि कृपा-करुणा ।
सर्व सुख पावे महाराज पुत्र आपके ,
हाथ जोड़ माँगूँगी यही मै सोमनाथ से ।"

बोली फिर पुत्र को निहार वह नारी यों—
"सोमनाथ जाना क्यों न होगा लाल, विभु तो
विश्व भर में है व्याप्त, किन्तु किसी क्षेत्र का
उनके प्रभाव से प्रताप बढ़ जाता है ;
जाते है उसे ही हम मस्तक झुकाने को ।
सब में रमें है राम, तदपि अयोध्या में ,
चित्रकूट, पंचवटी और रामेश्वर में
उनके चरित्र हमें करते पवित्र है ।
ऐसे शुभस्थानों का मिला है भार जिनको ,
वे भी पूजनीय है हमारे धन्य सुकृती ।
कर कहो, शुल्क कहो, भेट कहो, उनको
यदि हम दे सकें, तो देगे नम्र भाव से ।

शिव के लिए ही सोमनाथ नहीं जाती मै ,
वे तो है विराजे सदा मेरे ही शिवाले में ।
उनके उपासकों के भावों की विभूति को
भेटने मै जा रही हूँ, भेटने को लालसा ;
आते खजुराहे यथा आर्य, बौद्ध, जैन है ।
तर्क-बुद्धि से ही सब काम किये जाते हैं ,
किन्तु भगवान में तो श्रद्धा-भक्ति ही भली ।
नास्तिकों के हेतु लोष्ट मात्र जो है, उसमें
पाती भगवान को है भावुकों की भावना ;
मानिए तो शंकर है, कंकर है अन्यथा ।"
बोला हँस बाल—"माँ, तुम्हें जो मनःपूत हो ,
बाधा नहीं देगा कभी मेरा तर्क उसमें ;
जो तुम्हारी इच्छा ।" तब राजमाता बोलीं यों—
"किन्तु अब रात हुई, मेरे ही अतिथि हो ,
मै भी जा रही हूँ सोमनाथ, साथ चलना ।"

मस्तक झुकाया उन्हें माता और पुत्र ने ,
और पहुँचाए गए दोनो एक डेरे में ,

पाके राजभोग वहाँ सोये नींद सुख की ।

किन्तु उस रात राजमाता नहीं सो सकीं ;
हो सकीं न स्वस्थ वे विचारों के प्रवाह में ।
लौटा दिया भोजन का थाल विना खाये ही ,
पीकर रहीं वे एक पात्र जल-मात्र ही ।

मंत्री एक साथ था जो, पूछा जब उसने
उनसे अभोजन का हेतु, तब बोलीं वे—
"कैसे वह पाप-अन्न खाऊँ अब और मैं ,
ऐसे पाप-कर से कमाते तुम हो जिसे ?"
"पाप-कर कैसे देवि, यात्रियों को कितनी
सुविधा सयत्न दिनरात हम देते है ।"
"साधु-साधु ! सुविधा क्या साधारण ? तुम तो
अपनी अवनि पर, अपने गगन के
नीचे उन्हें आश्रय दे अपने पवन में
साँस लेने देकर न केवल जिलाते हो ,
अपने महेश से भी उनको मिलाते हो !

प्रस्तुत हो लोग कुछ और तुम्हे देने को
तो तुम न-जाने और क्या क्या सुविधा न दो !
देव, विप्र, वणिक तुम्हारे सब उनसे
पाते है यथेष्ट पूजा, दान, लाभ, फिर क्यो
कोरे रह जाओ तुम्हीं करके भी इतना !
ओरे दीन मानवो, अकिंचन ओ साधुओ ,
लौट जाओ, तुमको कहीं भी ठौर है नहीं ।
भेट गण-हेतु कुछ गाँठ में नहीं है तो
हर के यहाँ भी सुनवाई बस हो चुकी !
जानती थी मै कि मेरे राज्य-भर में कहीं
कोई अनरीति नहीं, और इसी हेतु मै
करती थी शान्तिमयी मृत्यु की ही कामना ,
जाऊँ सुनिश्चित ससंतोष जहाँ जाना है ।
किन्तु यह दीपक के नीचे ही अँधेरा है !"

"श्रीकौटिल्य ने भी निज 'अर्थ शास्त्र' ग्रन्थ में
पूर्ण प्रतिपादन किया है तीर्थ-कर का ।"
"श्रीकौटिल्य तो थे राजनीतिक ही सर्वथा ,

किन्तु धर्म-यात्रा करने को जा रही हूँ मै।"
"तो जो चाहिए सो देवि, आज्ञा मुझे दीजिए,
पालन करूँ मै, किन्तु प्रार्थना है इतनी—
कर को जो 'वलि' कहते है, सो यथार्थ है,
वलि है सदैव वलि; कर है कठिन ही,
सहज कहीं भी उसे देते नहीं लोग है।"
"तव तो जहाँ तहाँ न लेना उसे चाहिए;
डाकिनी नहीं है राजनीति, वह धात्रा है,
डाइन भी एक घर छोड़ चली जाती है।
किन्तु आज्ञा देना, यह मेरा नहीं, राजा का
काम है, भले ही उसे सम्मति मै दे सकूँ।"
"आप तो है राजप्रसू, आपका निदेश तो
राजा भी करेगे शिरोधार्य, आप कृपया
भोजन न छोड़े; अहा! अन्नमय प्राण है।"

वोली हँस देवी—"आत्मघातिनी न हूँगी मैं,
जानो उपवास इसे। चारों ओर चित्त के
कूड़ा और कर्कट इकट्ठा जव होता है,

तब जठराग्नि की सहायता से उसको
दग्ध कर आत्मशुद्धि पाता उपवासी है—
साधारण अग्नि में ज्यों सोना शुद्ध होता है।
जानती हूँ, जो कुछ करूँगी, जयसिंह को
होगा शिरोधार्य वह, किन्तु हम सब को
मान्य है स्वतन्त्र अधिकार सदा सब के।
मेरी गोद में है सदा मेरा पुत्र राजा भी,
किन्तु मेरा राजा वही मेरे सिर-माथे है।
जब युवराज है बनाता पिता पुत्र को,
बनता है आप तब छत्रधर उसका।

एक माता-पुत्र यहाँ मेरे दो अतिथि हैं,
उनका प्रबंध कर देना, सोमनाथ की
यात्रा सब भाँति शान्ति सौख्यकर हो उन्हें।
सुन्दर सिरोही शस्त्र-वस्त्र मेरी ओर से
देना पुरस्कार उस क्षत्रिय कुमार को;
जाऊँगी अभी मैं लौट।"

"दर्शन किये बिना?"

"किसके ? तुम्हारी उस पत्थर की पिंडी के,
जिसको दिखाकर कमाते तुम लाखों हो ?
मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सब के लिए,
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर-भावना।"

लौट गई राजमाता प्रातःकाल-पूर्व ही
रथ में विराज, शत सैनिकाएँ संग ले ;
पीछे रही अन्य सेना, कोलाहल आगे था।

पाके वीर-नारियों का गुल्फ-स्पर्श हींस के
ग्रीवा-भंग-पूर्वक तुरंग चले नाचते,
देते हुए ताल, लय बाँध टाप-थापों से।
मानों उड़ जाते अश्व, यदि गज शुण्डो-सी
दो-दो ऊरुओं से कसे होतीं वे न उनको !
हाथों में विशाल शूल चमचम होते थे,
भालों पर भृकुटि-सुचाप चढ़े आप थे,
दमक रहे थे मुख—दर्पण ज्यों धूप में,
देख सकता था कौन आँखवाला सामने ?

झनन झनन नाद हो रहा था रथ का !

किन्तु जयसिंह मिला बीच में ही माता से,
आ रहा था आप भी जो पीछे चल उनके।
दोनों दल एक हुए मिल दो प्रवाह-से।
युवक उदार-वीर उच्च उदयाद्रि के
शिखर-समान, चित्रभानु-सा किरीट था,
सहज प्रसन्न-मुख, लोचन विशाल थे,
भाल पर भौंहें दृढ़ निश्चय की रेखा-सी।
लाल लाल होंठों पर सूक्ष्म मसि-लेखा थी।
किन्तु पड़ती थी दृष्टि जाके वहीं उलटी,
हेतु हो रहा था आप डीठ का डिठौना ही !
पीन वृष-स्कंध, क्षीण सिंह-कटि, साहसी,
दीर्घ हस्ति-हस्त, मानो पशुता के गुण्य को
देव-साधना का वह पुण्य-नरक्षेत्र था !

सत्वर ससंभ्रम बढ़ा यों वीर माता की
ओर, उत्तरीय फहराता हुआ अपना,
जैसे लता-क्रोड़ पर फैला कर पक्षों को

टूटे कलकंठ ! माँ ने उस नत होते को
बल से समेट झट छाती से लगा लिया।

"दर्शन करूँगा माँ, तुम्हारे साथ, सोच के
आ रहा था, किन्तु तुम लौटीं हुई जा रहीं !"
"वत्स, मुझे साहस न हो सका कि जाऊँ मैं
भीम विरूपाक्ष के समक्ष, विश्वनाथ वे ,
विश्व के लिए है खुला द्वार सदा उनका ;
किन्तु हम द्वारी उन्हें देते नहीं घुसने ,
घूँस नहीं पाते हाय ! जिन हतभागो से।
तीर्थ-कर राज्य का चुका जो नहीं सकते ,
दर्शन विना ही उन्हें लौटा दिया जाता है।
रोते है, कलपते है, कोसते है वे हमें ,
होते है निराश।" भर आये अश्रु अम्बा के !
"आहा ! यह बात है ? परन्तु अपराध की
अम्ब, क्षमा माँगनी पड़ेगी हमें, अन्यथा
और भी बढ़ेगा वह, लौट चलो, चिन्ता क्या ?
जो हैं आशुतोष, क्षमा कर देगे वे हमें।"

लौटा कर माँ को वीर वाहुलोड़ पहुँचा।
पंचकुल लोगो से मँगाया वहाँ उसने
कर का निदेश-पत्र और लेखा उसका
देखा, उससे है प्रतिवर्ष लाभ लाखो का।
फाड़ फेका तो भी वह पत्र मातृभक्त ने,
माँ के चरणो पर चढ़ाया पत्र-पुष्प-सा!
गद्गद हो माँ ने उसे छाती से लगा लिया,
और कहा—"पूर्ति कैसे होगी राजकोष की ?"
"राजकोष रिक्त हो, तो चिन्ता नहीं मुझको,
राज्य में प्रजा की सुख-सिद्धि, निधि-वृद्धि हो,
पुष्ट प्रजा-जन ही है सच्चे धन राजा के।"

"हर हर महादेव! जै जै राजमाता की!"
गूँज उठा सोमनाथ-मंदिर सुनाद से।
पाके कर-बाधा-मुक्ति धनियो के साथ ही
दर्शन अकिंचनो ने पाया और गाया यो—
"हर हर महादेव! जै जै राजमाता की!"

द्वितीय सर्ग

मालव-महीप नरवर्मा इसी बीच में
आया चढ़ पाटन, ज्यो शैल-गुहा छोड़के
सिह कहीं जावे और व्याघ्र वहाँ आ जावे।

सांतू—शांत—मन्त्री ने विचारा, अब क्या करूँ,
दूर जिससे हो यह आकस्मिक आपदा।
बोला—"महाभट्टारक सोमनाथ है गये,
किससे लड़ेंगे आप ?" नृप नरवर्मा ने
उससे कहा—"मै कुछ राज्य नहीं चाहता,

दे दो कर-रूप भेट-पूजा, लौट जाऊँगा।"
पूछा तब मन्त्री ने कि "आप चाहते है क्या ?"
"लोभी नहीं धन का मै, चाहता हूँ मान ही।
जय का प्रमाण-रूप दे दो जयसिह का
सोमनाथ-यात्रा-फल मन्त्रिवर, मुझको।"
मन्त्री ने सहर्ष हँस अर्पण किया उसे।

किन्तु यह बात जब लौट जयसिह को
ज्ञात हुई, बोला वह खिन्न होके मन्त्री से—
"ठोक नहीं सकते थे यदि उस ढीठ को,
तो क्या तुम रोक भी न सकते थे उसको—
मेरे यहाँ आने तक ? आह कैसी लज्जा है !"
बोला नम्र सचिव—"बिना ही रक्तपात के
काम यदि हो गया, तो मैने क्या बुरा किया ?
राज्य-धन-धाम और प्राण तक एक का
दूसरा है ले सकता, किन्तु भला सोचिए,
ले सकता कोई कभी करनी किसी की है ?
यदि यह सम्भव है तो मै नरवर्मा की

सात पीढ़ियों का पुण्य भेंट करूँ आपको !"
हँस पड़ा राजा और बोला—"तुम अपनी
वस्तु दे चुके हो, भला दूसरे की दोगे क्यों ?
लेना और देना रहा, बात ही की बात है,
अस्तु, देखता हूँ उसे, कैसा वह शूर है !"

चढ़ गया वीर मालवे पर तुरन्त ही,
भेजा नरवर्मा को सभा में दूत उसने।
बोला वह वार्तावह निर्भय निनाद से—
"देव जब महादेव-दर्शनार्थ थे गये,
आये तब पाटन्न थे आप, यह सुनके
खेद हुआ उनको कि स्वागत न आपका
हो सका यथोचित। विशेष कर आपको
पुण्य-फल की थी अभिलाषा, यह जानके
चिन्ता हुई उनको कि ऐसा कौन पाप था,
दूसरे के पुण्य की सहायता की जिसको
जीतने में आपको अपेक्षा हुई ? वस्तुतः
मेरे महाराज को नहीं है लोभ फल का,

पुण्य के लिए ही पुण्य करते हैं वे कृती ।
आपके सुगति-हेतु नाहीं नहीं उनको ;
किन्तु आपको भी कुछ यत्न करणीय है !
कटते नहीं हैं निज पाप परपुण्य से ।
हाँ, अपना फोड़ा अपने से नहीं फूटता ,
मेरे महाराज उसे फोड़कर उसका
सारा विष दूर कर देंगे निज शस्त्र से ।
आप जिस भाव से गये थे, उसी भाव से
आये है यहाँ वे, निज शत्रु तथा मित्र से
योग्य व्यवहार करने मे वे समर्थ है ।
किन्तु सच मानिए कि पुण्य-फल आपका
यदि कुछ हो भी तो, नहीं वे कभी चाहते ;
पाते रहें दीन-दुःखी पुण्य स्वयं उनका ।
आये उलटे वे मद-पाप यहाँ मेटने
आपका; विनीत हूजिए, तो लौट जावेगे !”

क्षुब्ध हुए सभ्य सब मालव-महीप के ;
किन्तु हास्य-पूर्वक ही बोला नरवर्मा यों—

"दूत, मेरे धैर्य की परीक्षा तुम लेते हो—
अपनी अवध्यता की आड़ में खड़े खड़े।
कड़े कड़े वाक्य-बाण छोड़ते हो, फिर भी
तुच्छ तुम, धर्म-च्युत क्या करोगे मुझको ?
किन्तु अपराध है किसी को उकसाना यों,
अन्त में तो धैर्य की भी सीमा एक होती है,
वध भी उत्तेजना में क्षम्य गिना जाता है,
उत्तेजक कारण ही दायी वहाँ होते है।
पर न डरो तुम, तुम्हारे इस दोष का
योग्य फल पावेगा तुम्हारा प्रभु ही स्वयं।
'ऐसा कौन पाप था ?' वे पूछते है मुझ से,
तो वह यही था—अनुपस्थिति में उनको,
रहते हुए भी राजनीति निज पक्ष में,
मैने कृपा करके न छीना राज्य उनका ;
छोड़ दिया सिंहासन और धन-धाम भी।
फल तो विनोद या बहाना लौटने का था,
यात्रा की विफलता से बचने के अर्थ ही।
व्यर्थ नहीं होता कहीं जाना हम-जैसो का।

करने लगे जो किन्तु रोदन विनोद में,
वह उपहासास्पद बनता है और भी।
तुमने हँसी को सच माना तो यही सही।
तुमसे जनों का कर्म करना ही धर्म है,
फल हम-जैसे प्रभुओं के लिए छोड के !
आये तुम हो, तो महाकाल के प्रसाद से,
अर्घ्य-हेतु पानी का अभाव नहीं धारा में;
शीघ्र सार-घाट तुम्हे पार लगा दूँगा मै !
वैद्य, तुम अपनी चिकित्सा करो पहले,
मेरा मद-पाप मृषा तुम क्या मिटाओगे ?
घोर निज दम्भ तो मिटा लो। यह सच है,
फूटता नहीं है कभी फोड़ा आप अपना,
फोड़ दूँगा दम्भ का तुम्हारा अघ-कुम्भ मै !"

लौट गया दूत एक तीव्र तप्त झोंके-सा।
गाने लगे वन्दिजन, लोहा बजने लगा,
और रण-चंडी निज नृत्य करने लगी।
वह उठी राग-रस-धारा, मग्न हो उठी—

तन, मन और धन वारकर वीरता !
रंग जमा ऐसा,—दिन, मास तथा वर्ष भी
एक-पर-एक इसी भाँति गत हो गये ;
किन्तु उस गति की न टूटी ताल तब भी ?
एक लय देख-देख अचरज हो उठा !

वीर नरवर्मा लड़ा मृत्यु-भय भूल के ;
बरसों विपक्षियों को रोके रहा, फिर भी
वीर को भी वीर-गति मिलती है योग से ।
साधारण रोग ही से स्वर्ग मिला उसको ;
आन-बान अपनी निभाई नित्य उसने !

शोक और भय की तरंगें उठीं धारा में ,
आप जयसिंह को विषाद हुआ सुनके ;
योग्य शत्रु भी तो नहीं मिलता है सबको ।
रोक दिया युद्ध, क्रिया होने तक उसने ;
प्रतिनिधि भेज समवेदना प्रकट की ।
शत्रु और मित्र दोनों एक-से है अन्त में !

गत चिर शान्ति पावे, आगत चिरायु हो ;
उत्तराधिकारी यशोवर्मा हुआ राज्य का ।
बैठी सभा सोचने को युद्ध के विषय में ;
विग्रह में हानि और सन्धि में थी हीनता ।

"किन्तु इस हीनता में हाथ है विधाता का ।"
बोले कुछ लोग—"महाराज गत हो गये ,
हो गई उपस्थित अवस्था नई राज्य में ।
छाई है प्रजा में घोर चिन्ता चिर काल से ,
छाये रहते है गीध चारो ओर व्योम में ,
देश हुआ अग्निपूजको का पितृवन है !
सन्धि करने में फिर हीनता है कौन-सी ?
सन्धि तो समान ही से होती है, अवश्य ही
छोटो की बड़ो के साथ होती है अधीनता !"
"किन्तु दीनता तो स्पष्ट इसमें हमारी है ।"
बोला राजवंशी एक वीर जगद्देव यो—
"पूर्व महाराज गये स्वर्गधाम तो वही
छोड़ गये योग्य उत्तराधिकारी अपना ।

उष्ण अब भी है चिता-भूमि यहाँ उनकी ;
होगा समारम्भ पूर्ण उनका उन्हींका-सा।
वे गत हुए है, किन्तु गौरव है उनका ;
हम अपमान होने देंगे नहीं उसका—
शत्रुओं के सम्मुख दिखाकर विवशता।
हाँ, यदि करेंगे स्वयं सन्धि की वे कामना,
तो हम विचारेंगे सहर्ष बातें उनकी।"
"बरसों से हो रही है हानि धन-जन को !"
"फिर भी करेंगे हम रक्षा निज मान की।
तुच्छ इस तनु के लिए, जो क्षणजन्मा है,
क्या हम अनादर करेंगे निज ब्रह्म का ?

'हानि धन-जन की' परन्तु क्या हमारी ही ?
बात यह प्रथम विचारणीय वैरी को,
बाहर है वह तो, परन्तु हम घर है।"
"वैरी निज नाश करे, तो क्या हम भी करें ?"
"किन्तु वह नाश करता है आप अपना
या हमारा, यह भी तो देख लेना चाहिए।

वह जो हमारे साथ करता है, उ
साथ वही करने की इच्छा रखत
करता नहीं है किन्तु जैसा एक वे
वैसा करने के लिए कहते हो तुम
हार लेना चाहते हो हाय ! घर
और जो है बाहर, जिताने उसे
"बाहर है वैरी, बड़ी बात यही
जूझता है मोह छोड़, किन्तु हम
देखते है, नित्य निज धन-जन स
देखा गया, जीतता है आक्रमण-
टूट कर पानी भी पहाड़ काट ज
"किन्तु तुम होकर भी चेतन, प
प्रस्तर-समान जड़ ? सोचो, यदि
बढ़ के तनिक एक टक्कर ले पान
तो क्या वह कण-कण होकर न

की थी, यदि हम भी करे, तो क्या अयोग्य है ?"
"किन्तु भोजदेव के भी पूर्व निज विक्रमा-
दित्य महाराज ने शको का अन्त करके
साका कर जैसे निज संवत् चलाया था ,
वैसा यदि हम भी करें तो क्या अयोग्य है ?
थाती उस विक्रम की सौंपी गई किसको ,
जिसने शकों को और हूणों को हराया था ?
नहीं एक उज्जयिनी, सारी आर्यभूमि को
दस्युओं के बन्धनो से मुक्ति दी थी जिसने—
जिससे हुआ था फिर ऊँचा सिर जाति का ।
भागी हमीं उसके, हा ! आज निज भाल जो
करने चले है नत शत्रुओं के सामने !
है क्या अधिकार हम-जैसे लुंज पुंजों को ,
बैठें मुंजराज के सुमंजु कीर्ति-कुंज में ?
हम निज हीनता-समर्थनार्थ, अपने
पूज्य पूर्वजो की परिपूर्णता के रहते ,
खोजते है हाय ! आज न्यूनता हो उनकी ;
गिरते है आप, और उनको गिराते है ;

भेद भूल जाते है परिस्थिति-प्रकृति का ।
आप भोजदेव ने तुरुष्को को हराया था ,
और उसी भीम के विरुद्ध, भय छोड़ के ,
आश्रय दिया था धीर धुन्धक नरेश को ।
किन्तु जहाँ हारने का निश्चय हो पूर्व ही ,
व्यर्थ है बहाना वहाँ और किसी बात का ।
जीत और हार मुख्य मन ही से होती है ,
चल सकता है कहाँ तन मन के बिना ?"

"किन्तु मन मन ही है, पत्थर तो है नहीं ,
पत्थर भी पिघल उठेगा यहाँ सुनके
नित्य हत सैनिको की नारियो का, माँओं का ,
बहनो का, बेटियो का, बालको का, वृद्धो का
क्रंदन कठोर ! मध्य रात्रि जब अपना
सन्नाटा निहार स्वयं सन्न रह जाती है ,
और हम लोग स्वप्न देखते है निद्रा में ,
रोदन-रणन नहीं रुकता है तब भी !
एक-एक पत्ते पर लोटता है मत्त-सा ;

पाता नहीं चैन कहीं भू पर, तो उठके
सिर है नभः-शिला के ऊपर पटकता !
हो उठता अस्थिर है साँ-साँ कर शून्य भी ;
छूटते स्फुलिंग, तारे टूटते हैं चोट से !
हाय ! मानवों का मन तो भी नहीं मानता ।
आँखें दिन-रात यहाँ आँसू बरसाती हैं ,
उड़ती है धूल धन-जीवन की, फिर भी
आँधी रुकती है कब उत्कट उसासों की ?"
"रोदन-रणन वही उद्यत करे हमें ,
मृत्यु-भय छोड़ हम शत्रुओं से वैर लें ।
जाग उठे एक-एक पत्ता जन्मभूमि का ,
काँप उठें शून्य और कुग्रह हमारे वे
खस पड़ें सारे, यह संकट-निशा कटे ,
स्वप्न की विभीषिका-सी शत्रु-चमू भंग हो ।
इच्छा यही ईश की, तो नेत्र-वारि बरसे ,
बह जावें सारे मल, हम सब शुचि हों ,
शोणित बहाकर डुबा दें निज शत्रु को ।
आँधियाँ उसासों की हमारे बुझे प्राणों को

कर दे प्रदीप्त, उड़े धूलि-तुल्य भीतियाँ !
पाप नहीं, ताप हो हमारे उस रोने में।
निश्चय अभागे पिता और माता दोनो वे ,
पुत्रो का वियोग जिन्हे सहना पड़े कभी।
किन्तु धन्य है वे नर-नारी धन्य, जिनके
पुत्र, पति, भाई और बन्धु बढ़ बढ़ के
वीर गति पावे रख मान मातृभूमि का—
शत्रुओ के माथो पर पैर रखते हुए
भेद भानु-मंडल अखंड स्वर्ग-भागी हो।
जीवन-सुमन झड धूलि में गिरे कहीं ,
इससे भला है यही, उड़ कर शून्य में
कर दे समर्पित सुगन्धि जगत्प्राण को।

आज भी हमारे उन आँसुओ की वर्षा में
चमक रही है एक आभा अभिमान की ;
जीवन है अन्ध, बुझ जाय यदि वह भी।
रण में मरण-कीर्त्ति वरण न करके ,
कातर हो कौन नर, घुसकर घर में ,

जीना चाहता है कृमि-कीट-सरीसृप-सा ?
कौन वीर-नारी निज पुत्र और पति को
देख सकती है दीन शत्रुओं के सामने ?
आज जहाँ आँखों में भरे हैं अश्रु इतने ,
घोर घृणा और ग्लानि होगी वहाँ कितनी ?
किसकी स्त्रियों की गिरा गूँजती है अब भी—
'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि, महारा कंतु ,
लज्जेज तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घर एंतु ।'*
करनी थी सन्धि की ही प्रार्थना यों अन्त में ,
युद्धारम्भ तो फिर किया था क्यों प्रथम ही ?
व्यर्थ था क्या रक्त और अश्रुपात इतना ?

---

* सिद्धराज जयसिंह के सभा-पंडित प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने यह दोहा अपने व्याकरण ग्रन्थ "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन" में उद्धृत किया है। (भला हुआ जो मारा गया, हे बहन, हमारा कान्त। यदि वह भागा हुआ घर आता, तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

(श्री रामचन्द्र शुक्ल कृत "हिन्दी साहित्य का इतिहास।")

करके समर्पण यों शत्रुओ को अपना
हम मृत-तर्पण करेंगे किस मुँह से ?"

युद्ध का ही निश्चय सभा में रहा अन्त में ;
रह गये दीर्घश्वास लेके मौन संधि के
पक्षपाती, घर में ही दो मत यो हो गये ;
बनती न कैसे फिर तीसरे विपक्षी की ?

तब भी बहुत दिन युद्ध चलता रहा ।
हो रहा था सिद्धराज जय से निराश-सा ,
शत्रुओं की दुर्बलता ज्ञात हुई उसको ।
टूट पड़ा यम-सम दक्षिण के द्वार से ,
लौटने से जूझ मरना ही ठीक जान के ।
विजय करेंगे या मरेंगे, यह ठान के
बढ़ते है जो जन, वे रुक सकते है क्या ?
होता है निराशो का प्रकाश नाशकारी ही ।

हूल दिया हाथी ललकार कर वीर ने

प्रबल चलाचल यशःपटह नामका।
मार कर टक्कर, चिघाड़कर उसने
दुर्ग के किवाड़ फाड़ डाले तोड़-ताड़के।
आड में उसीकी वच, वैरियो को मारते,
घुस गये सैनिक प्रचंड नाद करके।
रह गये शत्रु क्षण काल जड़ीभूत-से—
अक-बक भूल, हुई हार इसी बीच में।

छाई थी निराशा घोर दुर्ग में प्रथम ही ;
डाल दिये शस्त्र बहुतो ने हार मानके।
वीर जगद्देव-जैसे जो जन थे युद्ध के
पक्ष में, लड़े वे; किन्तु आप अपनो ने ही
छोड़ दिया साथ, तव होता भला और क्या ?
तो भी चोट खाये हुए सिह-सम शूरो ने
खेल-सा दिखाया एक जीवन-मरण का ;
और बहु गुर्जरों को मूल्य में विजय के,
देने पड़े प्राण निज, एक-एक वार में
दो-दो, चार-चार भट मारे जगद्देव ने !

स्वर्ग-च्युत जीव-सम सैन्य-जन अपने
विचलित देख वृद्ध सिद्धराज गरजा ;
और आशाराज-नामी सैन्याध्यक्ष उसका
टूट पड़ा वज्र-सम गर्जना के साथ ही ,
वर्जना थी अपनों की शत्रुओं की तर्जना ।
खड्ग से प्रहार किया क्रुद्ध जगद्देव ने ,
और आशाराज ने भी, संग-संग दोनों के
भंग हुए खड्गद्वय खन-खन करके ।
फेंक मूँठ, मार एक दूसरे को मूँठ-सी ,
गिर पड़े दोनों भट माथा फट जाने से ;
मानो एक दूसरे को लाल टीका काढ़ के
एक दूसरे से चुपचाप वे विदा हुए !

सुन कर हाँक निज नाथ जयसिंह की
गुर्जर थे लौट पड़े प्राणों पर खेलके ।
साथ ही हताश हुए मालव विलोक के
वीर जगद्देव को अचेत । वे तुरन्त ही
युद्ध छोड़, घेर उसे, आड़कर अपनी

बैठ गये शत्रुओं से मरने को पहले।
हत्या-मात्र जान वध ऐसे स्वामिभक्तों का
रोक दिया सैनिकों को वीर जयसिंह ने
वार करने से, घेर वन्दी कर सब को
युगल अचेतों के उचित उपचार की
आज्ञा दी। इसीके साथ उस रणधीर का
आगे बढ़ने का मार्ग मानो स्वच्छ हो गया,
हार होते-होते अकस्मात जीत हो गई।

राजा यशोवर्मा लड़ा, और चाहा उसने
रण का मरण, किन्तु मन की न हो सकी;
वन्दी उसे होना पड़ा जीते हुए धृत हो।
पाकर विजय सिद्धराज जयसिंह ने
पाई अति दुर्लभ अवंतीनाथ पदवी।

किन्तु जगद्देव ने कहा कि "प्राण रहते
मानूँगा अवन्तीनाथ मैं न प्रतिपक्षी को।
मानता हूँ सिद्धराज, वीरवर तुम हो;

वीरोचित उच्चता-उदारता है तुम में।
किन्तु जो अचेत मुझे देख रण-क्षेत्र में
रोका निज सैनिकों को मारने से मुझको
तुमने, उसे मैं धर्म-युद्ध का नियम ही
मानता हूँ, तुमने निभाया निज धर्म है।
किन्तु इस कारण अधीन नहीं हूँगा मैं ;
जीवन-मरण दोनों एक-से हैं वीरों को।
अब भी स्वतन्त्र है अवन्ती निज शक्ति से ;
मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत में
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।
पंचतत्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझ में ;
कहला रहे हैं वही मुझसे पुकार के—
हम परतन्त्र नहीं, सर्वथा स्वतन्त्र हैं।
मानूँ किस भाँति मैं अवन्तीनाथ तुमको ?
वह पद चाहो यदि, जीतो मुझे पहले ;
लड़ने को प्रस्तुत हूँ सब से अकेला मैं।
सच्चे यदि वीर हो तो एक-एक करके

आओ, जिस भाँति चाहो, मुझसे निपट लो ।
ढाल-तलवार, धनुर्बाण, शक्ति-शेल लो ;
चाहो बाहु-युद्ध करो, जिसमें जो दक्ष हो ।
प्रथम प्रहार करो, झेलो फिर आप भी ;
देता हूँ चुनौती एक मालव का मानी मैं ,
जो है सदा उर्वर-उदाहरण भूमि में !

अथवा बँधा हूँ, मार डालो क्यों न मुझको ,
अंगीकार होगी नहीं मुझको अधीनता ।
काट डालो मेरा सिर कोई अनायास हो ,
किन्तु झुकने से रहा मस्तक विपक्षी को ।
कंठ कट जाय मेरा, किन्तु किसी काल में
कुंठित न होगा वह कहने से अपनी ।"

बोला तब सिद्धराज धीर-वीर वाणी से
"बद्ध नहीं, अपने को मुक्त तुम समझो ।
देता हूँ तुम्हे मैं मुक्ति, जानता हूँ, वीर हो ,
किन्तु शूर-वीरों का विभूषण विनय है ।

जो-जो कर सकते थे, तुमने सभी किया
जन्मभूमि-रक्षा-हेतु, किन्तु महाकाल ने
अपना प्रसाद दिया आज यहाँ मुझको।
जानती है जगती अवन्तीनाथ जिसको,
एक जन उसको न माने हठ ठानके,
चाहे प्राण जायँ, तो न मानने से उसके
क्या वह अवन्तीनाथ माना नहीं जायगा ?
यों तो इस पृथ्वी पर नास्तिक भी होते हैं !
करते हो युद्ध-हेतु तुम जो प्रचारणा,
वह है अकारण, समक्ष रण में स्वयं
पाकर भी उत्तर उचित आशाराज से
व्यर्थ यह आस्फालन।"

आशाराज उठके
बोला दृढ़ नम्रता से—"ऐसे वीरवर से
जूझने का गौरव मैं, आपके निदेश से,
यदि फिर पाऊँ आज, तो सौभाग्य समझूँ।
इनका प्रहार मेरे मस्तक का टीका है,
माने ये कलंक चाहे मेरे असि-चिन्ह को।

हार-जीत दोनों ही विधाता के विधान हैं ;
जूझ सकते हैं हम । प्रस्तुत हूँ मैं सदा ,
और भी अनेक हममें से, जिन्हें चाहे ये ।"
आदर से उसको विठाके, जगद्देव से
बोला सिद्धराज—"अव रक्तपात व्यर्थ है ।
वंदी जगद्देव, तुम्हे मार सकता हूँ मैं ;
तो भी हार मानना जो अस्वीकार है तुम्हें ,
तो तुम जियो हे वीर, विचरो स्वतन्त्र हो ।
फिर भी न भूलो यह, हो चुका सो हो चुका ।
यह भी बता दूँ, हम वैरियों के बदले
आप निज बन्धुओं से सावधान रहना ।"

"महाराज !" लज्जित स्वयं ही यह कहके
वीर जगद्देव हुआ । बोला वह फिर भी—
"वैरियो से जीने की अपेक्षा आप अपने
बन्धुओ से मरना भी अच्छा मानता हूँ मैं ।"
"अच्छी बात !" वोला सिद्धराज—"इन्हें छोड़ दो ।"
खोल दिया सैनिकों ने बन्धन तुरन्त ही ।

"जाओ, जिस भाव से समक्ष अब आओगे,
पाओगे समुद्यत हमें भी उसी भाव से।
होता यदि आज नरवर्मा तो बताता मैं,
साधु यशोवर्मा तो सदैव मेरी दृष्टि में
आदर के योग्य है, निभाई स्वयं उसने
अपने पिता की आन, शक्ति-भर जूझ के।
मन्त्रिवर! लाओ उसे आदर से, मान से,
देकर सहर्ष यह राज्य उसे अपने
हाथ से, बँधाकर कृपाण, निज पार्श्व में
हाथी पर बैठाकर पाटन को जाऊँ मैं।

उदयन मन्त्री गया नृप के निदेश से,
किन्तु जगद्देव नत मस्तक खड़ा रहा।
मानो कुछ सोचता था, बोला कुछ देर में—
"सचमुच महाराज, आज महाकाल ने
आपको प्रसाद दिया, इच्छा यही देवी की।
भय से पराजय न मानूँ, किन्तु आपके
वीरोचित विनय-विवेक व्यवहार से

हार मानता हूँ, और होता हूँ अधीन मैं।
सोमनाथ और महाकाल दोनों एक हैं,
मेरे और आपके प्रणम्य सदा एक-से।
आप न तो यवन, न शक है, न म्लेच्छ हैं;
आपकी विजय आर्य-क्षात्र की ही जय है,
और मेरी हार भी कृतज्ञता से पूर्ण है।
निकल रही है 'महाराज' वाणी आप ही,
और झुकता है स्वयं मेरा सिर सामने।"

उठकर सादर सुवर्ण-सिंहासन से,
ऋद्ध सिद्धराज ने प्रसिद्ध उस योद्धा को
हाथों में लपेट झट छाती से लगा लिया;
और कहा—"वीर, इस दीर्घ अभियान का
मैंने मूर्तिमान महालाभ तुम्हें पा लिया!
बाधक थे मेरे तुम जैसे यहाँ जय के
आकर्षक हो रहे थे वैसे ही हृदय के।"

इसके अनन्तर उदार जयसिंह ने

समुचित पुरस्कार बाँटा निज विजयी
सैनिकों को—भूषण वसन और वसुधा।
वीरता के मन्दिर-से उच्च आशाराज को
पूर्ण स्वर्ण-कलश प्रदान किया उसने।
और जैसा उसने कहा था, यशोवर्मा को
देकर अवन्ती-राज्य और गुजरात की
सुन्दर जड़ाऊ कोष वाली तलवार भी,
हाथी पर पार्श्व में बिठाकर, प्रसन्न हो
पाटन-प्रवेश किया जय-जयकार में।

किन्तु वह खड्ग देख उदयन मन में
हँसता था, इसमें थी चाल एक उसकी।
शस्त्र-सह पार्श्व में बिठाना निज शत्रु को
अनुचित जान कर, मणिमय कोष में
काठ की कृपाण रख दी थी आप उसने।
तो भी सब देखते थे विस्मय से उसको,
पलक झँपा रही थी म्यान की झलक ही!

तृतीय सर्ग

सन्तत विजेता, दृढ़चेता जयसिंह से
हार गया धाराधिप, किन्तु जगद्देव ने
जीत लिया उस गुनगाहक के मन को।
उसने विश्वास किया, घात नहीं इसने;
सोता वह स्वस्थता से और यह जागता।
मन्त्रणा में पार्श्व में, तो सम्मुख विनोद में;
पीछे जो प्रयाण में, तो आगे अभियान में;
व्याप्त सब ओर यह हो रहा था उसके,

और वह रक्षित था इससे घिरा हुआ।
इसने कहा जो, सो उसीका-सा कहा रहा,
करते क्या और दोनो, दोनो के लिए भला ?

पाई थी प्रसिद्धि उस ऋद्धि-वृद्धि-शाली ने—
'प्रेत वश में हैं उस नित्य फलीभूत के।'
जीत कर वर्वरक जैसे वन्य योद्धा को
धन्य वह नागर उजागर अजेय था।

गानधनी सोरठ का मानधनी राना था
नवघन; किन्तु जयसिंह के विरोध में
घोर अपमान मात्र सहना पड़ा उसे ;
नाकों चने चाबने पड़े थे और फिर भी
निष्कृति के हेतु पडे दाँतो तृण दावने !

मानते हैं मृत्यु को भी अच्छा अपमान से।
लेने को परन्तु प्रतिशोध जयसिंह से
जीता रहा नवघन; तो भी सिद्धराज के

शत्रुओं के मन की न पूरी कभी हो सकी ।
अन्त में बुला के निज चारो पुत्र, राना यों
बोला—"सुनो, क्षत्रियों को उत्तराधिकार में
लेना पड़ता है निज पूर्वज का वैर भी ।
मेरी वैर-शुद्धि कर ले जो सिद्धराज से ,
ले ले वही मेरा राजसिंहासन तुम में ।"
किन्तु जयसिंह से क्या जूझना सहज था ?
सुन चुपचाप चारो पुत्र अवसन्न थे ।
देर हुई, बोला तब फिर नवघन ही—
"पाटन के तोरण-कपाट जूनागढ़ में
लाकर लगाना चाहता था मैं स्वबल से ;
वह दिन आया नहीं, यह दिन आ गया !
जीवन में आशा नहीं पूरी हुई, अन्त में
हाय ! मेरी मृत्यु भी निराशा-पूर्ण ही रही ।"

देख के पिता की ओर एक वार फिर भी
कर लिये नीचे सिर तत्क्षण ही पुत्रों ने ;
फड़के अधर, किन्तु बात नहीं निकली ।

पौत्र भी खड़ा था पास, बोला वह बढ़ के—
"तात ! राज-पाट तो पिता ले, यही ठीक है ;
लेगा यह दास वैर निश्चय ही आपका ।
शान्ति पावे आप, क्रान्ति मेरे कर मे रही ।"

आई नई कान्ति म्लान मुख पर वृद्ध के—
"योग्य अधिकारी वत्स, तू ही इस राज्य का ,
धन्य, मेरा अन्त तू ने बढ़ के बना लिया !"
बुझ गया दीपक तुरन्त बढ़ सहसा ।

छोड़ दिया राज्य युवराज महीपाल ने
पुत्र-हेतु, पूर्ण कर इच्छा निज तात की ।
ली खंगार ने भी राजसत्ता पितामह के
आज्ञा-रूप में ही, प्रतिशोध मात्र उसका
लेना चाहता था वह, जेता जयसिंह से ।
निर्भय था, साहसी था और तेजोङ्गार-सा
था खंगार जागरूक; सन्धि लगा खोजने
विग्रह के अर्थ उस विश्रुत समर्थ से ।

शत्रुओं के मन की न पूरी कभी हो सकी ।
अन्त में बुला के निज चारो पुत्र, राना यों
बोला—"सुनो, क्षत्रियों को उत्तराधिकार में
लेना पड़ता है निज पूर्वज का वैर भी ।
मेरी वैर-शुद्धि कर ले जो सिद्धराज से ,
ले ले वही मेरा राजसिंहासन तुम में ।"
किन्तु जयसिंह से क्या जूझना सहज था ?
सुन चुपचाप चारों पुत्र अवसन्न थे ।
देर हुई, बोला तब फिर नवघन ही—
"पाटन के तोरण-कपाट जूनागढ़ में
लाकर लगाना चाहता था मैं स्वबल से ;
वह दिन आया नहीं, यह दिन आ गया !
जीवन में आशा नहीं पूरी हुई, अन्त में
हाय ! मेरी मृत्यु भी निराशा-पूर्ण ही रही ।"

देख के पिता की ओर एक वार फिर भी
कर लिये नीचे सिर तत्क्षण ही पुत्रों ने ;
फड़के अधर, किन्तु बात नहीं निकली ।

पौत्र भी खड़ा था पास, बोला वह बढ़ के—
"तात ! राज-पाट तो पिता लें, यही ठीक है ;
लेगा यह दास वैर निश्चय ही आपका ।
शान्ति पावे आप, क्रन्ति मेरे कर मे रही ।"

आई नई कान्ति म्लान मुख पर वृद्ध के—
"योग्य अधिकारी वत्स, तू ही इस राज्य का ,
धन्य, मेरा अन्त तू ने बढ़ के बना लिया !"
बुझ गया दीपक तुरन्त बढ़ सहसा ।

छोड़ दिया राज्य युवराज महीपाल ने
पुत्र-हेतु, पूर्ण कर इच्छा निज तात की ।
ली खंगार ने भी राजसत्ता पितामह के
आज्ञा-रूप में ही, प्रतिशोध मात्र उसका
लेना चाहता था वह, जेता जयसिंह से ।
निर्भय था, साहसी था और तेजोङ्गार-सा
था खंगार जागरूक; सन्धि लगा खोजने
विग्रह क अर्थ उस विश्रुत समर्थ से ।

आ गया प्रसंग वह भाग्य या अभाग्य से।
हित करना ही किसी जन का कठिन है ;
सुलभ सभी के लिए सब का अहित है।

कहते है, जन्मी एक पुत्री सिन्धुराज के
रत्नरूपा, किन्तु किसी रत्न के समान ही
ऐसे ग्रह-दोष थे, रहेगी जिस गृह में ,
दीपक बुझा के ही रहेगी नाग कन्या-सी!
उसका पिता न था पिता ही, वह राजा था ,
राज्य-रक्षा हेतु क्या क्या सह्य नहीं राजा को ?
करनी पड़ी हा! प्राण-प्रतिमा विसर्जिता।

कण्व ने शकुन्तला को जैसे, उसे वन में
पाया पुत्रहीन किसी कुंभकार जन ने।
जाना परित्यक्त, तो भी माना दान प्रभु का।
"आई तू विपत्ति बन जिसके भवन में ,
है वही अभागी, किन्तु मै तो भाग्यशाली हूँ ;
पाई सम्पदा है आज मै ने अनायास ही।

आई जब बेटी तब एक दिन बेटा भी,
तेरे लिए, मेरे घर, मोर धर आयगा
और सुख-साका एक मै भी कर जाऊँगा।"
मातृ-पद पा गई उतरती अवस्था में
गृहिणी कुम्हार की, कृतार्थ वह हो गई।

घर क्या, स्वदेश तक छोड़ गये दंपती।
ले के वह कन्या-रत्न, सोरठ के प्रान्त में
जा बसे निरापद। नहीं थी धराधाम की
चिन्ता उन्हे, धन उनका था निज गुण ही।
शिल्प कर्म-कौशल से जीविका सुलभ थी,
चाहे कहीं क्यो न चले जायँ जगती में वे।

राज-कुल-संभवा थी और देवी-रूपिणी,
रानकदे नाम दिया कन्या को उचित ही,
और दंपती ने उसे पाला अति यत्न से;
शिशु पलते है प्रेम से ही, नहीं हेम से।
पूँजी जहाँ मृत्तिका हो, पूछना ही क्या वहाँ?

गढ़ कर मिट्टी को सुवर्ण वना देते वे ।
रानकदे स्वर्ण-प्रतिमा-सी थी प्रथम ही ,
होने लगी प्रकट सुगन्धि अव सोने में !
मृत्तिका के पिंड जैसे चक्र पर चढ़ के
वनते कुम्हार के करों से प्रिय पात्र थे ;
कालचक्रारूढ़, गूढ़ हाथों से विधाता के
वन गई रानकदे वैसे रूप-भाजना ।
उसकी प्रसन्नता के हेतु पिता-माता वे
क्या न करते थे आँख मूंद के, जी खोल के !
बाप मनोरंजन की वस्तुएँ जुगाता था ,
माता नये व्यंजन वनाकर चुगाती थी ;
पाली थी उन्होंने राजहंसी मान-सर की ।

घर घर मान उसका था गाँव भर में
मानते थे लोग, किसी देवी ने कुम्हार के
घर अवतार लिया, लीला के विचार से ।
देखता जो उसको, सो अचरज लेखता ;
और अपने को आप देखती थी वह भी ,

किन्तु वह देखना था योगिनी का आत्मा को !
परिजन-प्रीति-हेतु वह करुणामयी
हँसती अवश्य, किन्तु मानों कृपा करके ;
अन्यथा निमग्न थी गभीरता मे अपनी ।

घर के निकट कुछ पेड़-पौधे रोपे थे
और बना ली थी एक वाटिका-सी उसने ।
गोड़ती थी, सींचती थी आप वह उसको ,
पानी खींचती थी नित्य प्रातःकाल कूप से ।
दाये और बाये घूम घूम झूम झूम के ,
आता लूम लेता हुआ पूर्ण घट नीचे से ;
पाती गहरे का रस वह गुणशालिनी ।
राग रह जाता, स्वेद-भाग वह जाता था ;
यो व्यायाम और काम संग संग होते थे ।

पाते नहीं फूल-फल मात्र गॉव भर के
बच्चे उपहार निज रानक बहन से ,
मिट्टी के खिलौने भॉति भॉति के बनाती थी ,

और सजा आती थी घरों में वह उनके।
गाँव के प्रतिष्ठित कुलों में भी, विशेषतः
होती जहाँ कोई कथा-वार्त्ता वहाँ, उसकी
रहती प्रतीक्षा, वह आप थोड़ा बोलती ,
फूल झड़ते थे किन्तु बोलने में उसके।
सुनके पुराण आदि जब घर लौटती ,
बैठके अकेली वाटिका में वह गुनती।
क्या गुनगुनाती, कौन जाने, किन्तु बहुधा
रहते उसीके स्वर और गीत दोनों ही।
पालित मयूर वहाँ आता और देखता—
वीणा छोड़ वाणी वृत्त-रचना में लीन है !

देख कर पल्वल में फूली हेम-नलिनी
चौंका कर चारों ओर चर्चा चली उसकी।
आई आप लक्ष्मी सुन कुम्भकार-गृह में ,
लुब्ध हुए राजा तक लेने के लिए उसे।
रूप-गुण-गन्ध पाके आप जयसिंह के
लोचन-मिलिन्द मुग्ध जाके वहीं मचले।

आया वह सीमा पर मृगया के मिस से,
किन्तु लक्ष्य मे थी मृग-लोचनी ही उसके
सोरठ की।

पाया समाचार यह राना ने;
गर्वी गिरनार-सिंह पूर्ण प्रतिशोध का
अवसर जान के आ टूट पडा बीच में।

रात हो चुकी थी, दीप दीपित था पौर में;
काँपती शिखा-सी, लिपे आँगन में रूपसी
रानकदे संकुचित और नत थी खड़ी;
था खंगार संमुख सजीव एक चित्र-सा।
देखती थी ऊपर अनन्त-तारा-मंडली
द्वन्द्व जगती का यह, नीरव निस्पन्दिता!

"निर्भय हो रानकदे!" राना मृदु स्वर से
बोला—"शुभे, पर नहीं, निज हूँ तुम्हारा मैं।
कुछ न सही तो एक वीरता के वाने से
अवला का त्राण करने को वली वाध्य है;

सोरठ का भार लिया हठ कर मैं ने तो।
तुमको विदित है, तुम्हारे पिता-माता की
अनुमति लेके यहाँ आया हूँ अधीर मैं,
कुछ कहने को, कुछ सुनने को तुमसे।
सुनके तुम्हारा रूप, कल्पना से आँका था
व्यर्थ एक चित्र मै ने, तुम तो विचित्र हो!
वस्तुतः सुना था नहीं, जैसा तुम्हें देखा है।
नेत्रो को लुभाया श्रवणो ने था यथार्थ ही,
उत्सुक किया है श्रवणो को अब नेत्रों ने।"
"वीर! मैं तो तुच्छ एक कन्या हूँ कुम्हार की।"
"झूठी बात! अपना अनादर भला नहीं।
अथवा तुम्हारा आभिजात्य-अभिमान ही
क्षुब्ध हो उठा है यह, राजपुत्रियो को भी
दुर्लभ है ऐसी दीप्ति, तुम कुलवन्ती हो।"
"यदि यह सत्य है तो उच्च कुल क्या वही,
त्यागा हननार्थ मुझे जन कर जिसने?
गर्व करूँ उसका तो लज्जा फिर किसकी?"
"भामिनि, किसीके लिए त्याग क्या सहज है?"

"कठिन परन्तु उससे भी अपनाना है।
मेरे पिता-माता वही, पालक जो मेरे है ;
लड़की उन्हींकी लाड़ली हूँ मै, लड़ैती भी।"
"आर्यकुलशील यही, यह न समझना
हीन मानता हूँ मै किसी भी ज्ञाति-कुल को ;
कौशल के साथ निज कर्म करते हैं जो ,
और सदाचार धर्म पालते है अपना ,
वे सब कुलीन हैं; तथापि वंश-वंश की
संस्कृति विशेष कुछ होती है सहज ही—
आकृति, प्रकृति और कृति में रमी हुई।
होते है अवश्य नियमो के अपवाद भी ,
तो भी अपवादो से नियम नहीं मिटते।

खनि की महत्ता मणि से ही सिद्ध होती है ,
तुम पर आप जयसिंह निछावर है !"
"मुझ पर ?" आके लगी मूँठ-सी गुलाल की
रानक को, बोली वह—"मुझ पर ? अथवा
मेरे रूप मात्र पर, जो मुझे लजाता है ?

भद्र, काली कोइल भी भाग्यवती मुझसे,
मुख नहीं, कंठ देखते है लोग जिसका !"
"वंचित अवश्य वह, यदि इस कंठ में
देखा नहीं हृदय तुम्हारा भरा उसने ;
फिर भी सुखी है वह और भाग्यशाली ही।"
लेके एक दीर्घश्वास राना फिर बोला यों—
"किन्तु मै ने देख लिया, हृदय यही है, जो
तज तृण-तुल्य सके उसके विभव को।"
"आदर परन्तु मेरे मन में है उनका,
शूर-वीर विश्रुत वे और है उदार भी।"
"तब भी कुशल ! निज शत्रु के गुणों का भी
आदर उचित, किन्तु सच्चा भाग्यशाली तो
होगा वही, श्रद्धा नहीं, प्यार पा सकेगा जो
अद्भुत तुम्हारे इस उच्छ्वसित उर का।
कहता नहीं मै, शौर्य भूलो तुम उसका,
किन्तु तुम सोरठ की, सोरठ तुम्हारा है।
जीवन हमारा धिक, रहते हमारे जो
सोरठ की शोभा हरे, सोरठ का शत्रु ही।

तुम हो हमारी गृहलक्ष्मी, यदुवंशी मै ;
शूर शिशुपाल न था ? क्रूर जयसिह क्या ?
देखो तुम दृष्टि डाल निज गिरनार को ,
उन्नत-उदार जयसिह इससे भी क्या ?
वीरता-उदारता का अन्त क्या उसीमें है ?
स्रष्टा की महत्ता की इयत्ता नहीं लोक में ;
मैं भी कुछ भीरु नहीं, यदि वह वीर है ।
उसमें उदारता है तो मै क्या कृपण हूँ ?
यदि जयसिह कृती, तो खंगार भी व्रती ।
तुच्छ धन-धाम क्या, मै व्रत पर अपने
प्राण तक वारने को प्रस्तुत हो बैठा हूँ ।
मर्त्य जयसिह क्या, तुम्हारा यह रूप तो
देवो के लिये भी लोभनीय-शोभनीय है ।
किन्तु मै खड़ा हूँ आज याचक बना हुआ
आकर तुम्हारे मनोद्वार पर मानिनी !
लाख संकटो में एक सान्त्वना की आशा से ।"
"हाय ! वीर, एक अवला से वल-याचना ?"
"भद्रे, नर-भाग्य यही, पूछो स्वयं शिव से ,

शक्ति के विना वे शव मात्र रह जायँगे !"
"तुम यदुवंशी, मेरे कुल का ठिकाना क्या ?"
"गोत्र रमणी का वही, जाय वह जिसमें ।"

"भावुक, भवानी लाज रक्खे सदा मानी की।
आई है अमंगला-सी किन्तु इस भव मे
भाग्य-हीना रानकदे । जननी-जनक भी
रख न सके हा ! जिसे अपने भवन मे,
ठौर कहाँ होगी उसे ? सक्षम, क्षमा करो ।
अच्छा इससे तो यही, वैरी जो तुम्हारा हो,
जाऊँ मै उसीके घर, इच्छा वा अनिच्छा से ।
वस्तुत: सतीत्व का भी स्वत्व कहाँ मुझको !"
काँपी कुल-बाला, दाँत पीस के खड़ी रही ।
"वैरियो के वाण भी भले थे इस वाणी से !
क्या कह रही हो तुम हाय ! यह किससे ?
प्रस्तुत प्रथम ही मै केसरिया वाने से ।
शंका तुम्हें हो रही है उसकी विपत्ति की,
स्वागत के अर्थ जो समुद्यत है उसके ।

तरस न खाओ हाय ! एक बात सुन लो,
चाहता नहीं मैं दया दैव की भी, न्याय तो
दस्यु से भी माँगने में लज्जा नहीं मुझको।
सम्प्रति तो सम्मुख सुधा ही दृष्टि आती है,
विष निकलेगा तो उसे भी मैं न छोड़ूँगा।
भय रहने दो, मान मेरा, प्राण किसके ?
वरण विचारणीय उसका अवश्य हाँ,
जीवन-मरण दोनों जिसके समान है।"
"यह प्रतिशोध हुआ, मेरे कहे भय का !"
बाला इस बार हँसी, मानो कली विकसी—
"अग्रगामियों के सोचने की सब बातें हैं;
दोनों एक-सी है अनुगामिनी के अर्थ तो—
ठाठ की कुसुम शय्या, किंवा चिता काठ की !"

डाल के विजय-दृष्टि, साथ ही विनय से,
राना के समक्ष नत रानकदे होगई।
दोनों के दृगों में नीर, होठों पर हास्य था;
ओस-भरे फूल खिले जा रहे थे सृष्टि में;

पुलक रहा था वायुमंडल महकता ।
वीर के गले में पड़ी पुंडरीक-माला-सी ,
पत्र-रचना-सी थी कपोलों पर बाला के !
नाचे हरे-लाल पत्ते करतल-ताल दे ;
टूटे नहीं तारे, रत्न वारे अन्तरिक्ष ने !

विजयी कृतार्थ वर बोला—"प्रिये, तुमने
मिथ्या भय-बाधा निज दैव और कुल की
मुझसे कही सो जयसिंह से नहीं कहो ?"
बोली वधू—"गाँव के गृहस्थ एक, जिनको
मेरे पिता मानते है और जो बिचौनो थे ,
अपनी असम्मति जनाते हुए, उनकी
बेटी से कहा था सब मैं ने, और उसने
पूछ मुझे पार्थिव का शासन सुनाया था—
"अश्व-दोष, रत्न-दोष होता नहीं राजा को ।"
"तुम किस कोटि में थीं, अश्व की या रत्न की ?"
"राजा ही बतावें यह" बोली हँस रंगिणी ।
"राजा का निदेश कहाँ माना किन्तु तुमने ?

फिर भी वही कहा, भले ही अन्य राजा से।"
"और मै बना ली गई आज राज-वन्दिनी!
जन्म जन्म में भी मुझे निष्कृति मिलेगी क्या?"
बोला हँस राना उसे बाँध भुज-पाश में—
"वन्दी है परन्तु प्रिये, प्रहरी भी वन्दी का।"

"होगा क्या न जाने, अब मेरे पिता-माता का?
होती देख रानी मुझे सम्मत हुए थे वे।"
आँखें पोंछ रानक ने एक लम्बी साँस ली।
"कर दो यथोचित व्यवस्था प्रिये, उनकी।"
"दैव ही करेगा नाथ!"

"कैसी बात?"

"पूछ लो,
रह क्या सकेंगे यहाँ, जैसे रहते थे वे?
सह क्या सकेंगे, अब आडम्बर होगा जो?"
राना ने बुलाया और आये वहाँ दोनो वे।
"वृद्ध, भाग्यशाली रहा मै ही जयसिंह से।"
"किन्तु महाराज, मेरी बेटी हुई रानी ही;

पुलक रहा था वायुमंडल महकता।
वीर के गले में पड़ी पुंडरीक-माला-सी,
पत्र-रचना-सी थी कपोलों पर बाला के!
नाचे हरे-लाल पत्ते करतल-ताल दे;
टूटे नहीं तारे, रत्न वारे अन्तरिक्ष ने!

विजयी कृतार्थ वर बोला—"प्रिये, तुमने
मिथ्या भय-बाधा निज दैव और कुल की
मुझसे कही सो जयसिंह से नहीं कहो?"
बोली वधू—"गाँव के गृहस्थ एक, जिनको
मेरे पिता मानते हैं और जो बिचौनी थे,
अपनी असम्मति जनाते हुए, उनकी
बेटी से कहा था सब मैं ने, और उसने
पूछ मुझे पार्थिव का शासन सुनाया था—
"अश्व-दोष, रत्न-दोष होता नहीं राजा को।"
"तुम किस कोटि में थीं, अश्व की या रत्न की?"
"राजा ही बतावें यह" बोली हँस रंगिणी।
"राजा का निदेश कहाँ माना किन्तु तुमने?

फिर भी वही कहा, भले ही अन्य राजा से।"
"और मै बना ली गई आज राज-वन्दिनी !
जन्म जन्म में भी मुझे निष्कृति। मलेगी क्या ?"
बोला हँस राना उसे बाँध भुज-पाश में—
"वन्दी है परन्तु प्रिये, प्रहरी भी वन्दी का।"

"होगा क्या न जाने, अब मेरे पिता-माता का ?
होती देख रानी मुझे सम्मत हुए थे वे।"
आँखें पोछ रानक ने एक लम्बी साँस ली।
"कर दो यथोचित व्यवस्था प्रिये, उनकी।"
"दैव ही करेगा नाथ !"

"कैसी बात ?"

"पूछ लो,

रह क्या सकेंगे यहाँ, जैसे रहते थे वे ?
सह क्या सकेंगे, अब आडम्बर होगा जो ?"
राना ने बुलाया और आये वहाँ दोनों वे।
"वृद्ध, भाग्यशाली रहा मैं ही जयसिंह से।"
"किन्तु महाराज, मेरी बेटी हुई रानी ही ;

विस्मय नहीं है मुझे, निश्चय था इसका ।
इससे बड़ी क्या और भेंट दूँ मैं आपको ?
मिट्टी खोदते हैं हम जाकर जहाँ-तहाँ,
मैं उसीमें पा गया था एक दिन सोना भी !
यदि वह स्वीकृत हो, दीन कृतकृत्य हो ।"
रोती हुई रानक की ओर देखा राना ने ।
बोली वह—"तात, तुम आशिष ही दो हमें ।"
"चुप रह बेटी, आज तेरी नहीं मानूँगा,
तू पराई हो चुकी है। यों ही जरा आ गई,
धन जो रहेगा, हाथ-पैर-फूल जायँगे ;
व्यर्थ कहाँ लादे मैं फिरूँगा इसे यात्रा में ?"
"आवश्यकता क्या तुम्हें ऐसी किसी यात्रा की ?"
"शान्ति अब देगी महाराज, तीर्थ-यात्रा ही ।
और, राज्य का भी इस अपनी हठीली के
पानी जो न पीना पड़े तो फिर क्या पूछना ?"
"हाय ! अब हो गई हूँ इतनी अस्पृश्य मैं ?"
पैरों में पड़ी थी सुता, माता-पिता रोते थे ;
देखता अवाक अवसन्न खड़ा राना था ।

कौन सुनता था, कहाँ बोलता उलूक था !

पाटन की मानो पाटरानी ही हरी गई !
खौल उठा रक्त शक्तिशाली जयसिंह का ।
क्रुद्ध केसरी भी, तुलना में उस योद्धा की,
जान पड़ा एक क्षुद्र कूकर-सा सब को ;
जा न सके उसके समीप मान्य मन्त्री भी ।
साला उसको भी अपमान नवघन का
अन्तर में, एक वार, अपना किया हुआ ।
फिर भी प्रतिज्ञा यही थी उस प्रतापी की—
एक ही रहेगा अब, या खंगार या वही !

पूरी हुई किन्तु वह पन्द्रह बरस में ;
हार हुई बार बार, तो भी जीत अन्त में ।
ठानता सो पूरा करके ही वह मानता,
छोड़ना न जानता था बान, यही आन थी ।
हारा नहीं अन्त में भी राणा रण-केसरी ;
टूट गया, किन्तु वह अचल लचा नहीं !

दोनों ही निभाता रहा एक-सी उमंग से ,
शत्रु-भाग-भंग, राग-रंग संग रानी के ।
तो भी गढ़ टूटा हाय ! घर की ही फूट से ,
घाती हुए आप युग भागिनेय उसके ।
देशल था एक और वेशल था दूसरा ,
वेचा देश एक ने, लजाया वेश अन्य ने !

जब तक जीता रहा एक कण राना का
व्रण ही विपक्षियों को देता रहा रण में ;
वातें छिन्न मुण्ड ने की, घातें भिन्न रुण्ड ने !
भीषण था किन्तु प्रतीकार जयसिंह का ,
काँप उठे अपने भी देख कर उसको ।
काम-जन्य क्रोध और क्रोध-जन्य मोह था ।
राना के किशोर सुकुमार दो कुमार थे ,
मारा उनको भी स्वयं यह कह उसने—
"साँप के सँपेलुए भी छोड़े नहीं जाते हैं ।"
देखती थी रानकदे, बोली नहीं कुछ भी ।
ध्यान में तो थी ही वह, अब थी समाधि में—

संज्ञा-हीन । देखकर राजा ने उसाँस ली ।
ठहर सका न वह सोरठ में, शीघ्र ही
वैसी ही दशा में वढ़वान उसे ले गया ।
और, साथ ले गया विशाल सिर राना का,
कोट के कँगूरे पर टाँगने को उसको !

फैल गई सनसनी, लोग डरे मन में ;
डूबा जय-हर्ष सती-साध्वी के विषाद में ।
राज्य का उलट-फेर सह लिया जाता है,
किन्तु भला पातिव्रत-भंग किसे भायगा ?
भूषण जिन्हे थे व्रण वैरी से मिले हुए,
भय उनको भी हुआ सत्य-सती-शाप का ।

रानकदे आप न थी मानो इस लोक में ;
मानो एक मौन मूर्त्ति मन्दिर मैं बैठी थी,
होकर तटस्थ शोक और हर्ष दोनो से ।
व्यर्थ परिचारिकाएँ करती प्रतीक्षा थीं ;
वह इस जन्म की समाधि लिए बैठी थी ।

तो भी जयसिह उसे मानता था अपनी ;
आया वह, बोला उसे देख दीप्त दृष्टि से—
"रानकदे, पाटन की राजलक्ष्मी तुम हो ;
तुमको हरा था जिस दस्यु ने, मै उसको
दंड दे चुका हूँ; तुम मेरी और मेरी हो ।
मेरा राजसिहासन करता प्रतीक्षा है ,
बैठ मेरे पार्श्व में अवाध निज आज्ञा दो ।"
ऊँची हुई ग्रीवा, खुली रानक की पलकें ,
गहरी घटा में उठी चौंध-भरी कौंध-सी ।
फड़के अधर, वह बोली अनिच्छा से हो—
"मेरा राजसिहासन जलती चिता में है ;
वीरगति-भोगी एक मात्र मेरे स्वामी ही
बैठ सकते हैं वहाँ, ऊँचा सिर करके ।
मुग्ध जयसिंह, तुम जीते जी जलोगे क्यों ?"
"हा ! तुम्हारा प्रेमी चिरदग्ध हो रहा हूँ मै ।"
"चुप, चुप कामी, चुप ! नाम न लो प्रेम का ,
अबला रहूँ मै, किन्तु धर्म बलवन्त है ।
तुम हो कृपाण-पंथी, प्रणय-पथी नहीं ;

प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय-सी ;
सच्चा योग उसका वियोग मे ही होता है ।
मर के जिलाता वह, जीता नहीं मारके ।
मेरा यह जन्म पूरा हो चुका है कब का ,
अब कहने को और सुनने को क्या मुझे ?
जाना चाहती थी मै यहाँ से चुपचाप ही ।
किन्तु देखती हूँ, लोक यो ही किसी जन को
देता नहीं निष्कृति, कहे विना, सुने विना ।
देखता है कौन मन ? चाहिए वचन ही ।

जूनागढ़ टूटा, खड़ा किन्तु गिरनार है ,
होते ही रहेंगे सिंह उसकी गुहाओं में ।
वर नहीं, तो भी वीर मानती थी मैं तुम्हें ,
और वरता भी निज तात के निदेश से ;
पिछड़े परन्तु तुम, मेरा वर आ गया ।
इस जगती में, इस एकाकिनी नारी का
नर था अकेला वही । किन्तु यदि चाहते
पशुता से तुम भी अवश्य बच सकते ।

मेरे राव-राना पर तुमने चढाई की ,
इसके लिए मै तुम्हें दोष नहीं देती हूँ ।
स्वामी ने कहा था—'प्रिये, पाहुने पधारे हैं !
प्रेमी वे तुम्हारे भला वैरी बने मेरे क्यों ?'
'वीर है वे और मानी' मै ने कहा तब भी ।
'पानी मुझमें भी यहाँ, वे आकंठ मग्न हों !'
और रक्त-दान भी उन्होंने दिया तुमको ;
कह नहीं सकते हो भीरु उन्हें तुम भी ।
उनका तुम्हारा कुल-वैर, किन्तु मुझको
वरण उन्होने किया, हरण नहीं किया ।
पाया बल लेके नहीं, अंतस्तल देके ही ।
वासना नहीं थी वहाँ, उज्ज्वल उपासना ।

भित्ति-भेदियों-से, भेद-भाव के सहारे से
जब घुस पैठे तुम, तब भी मै तुमको
दे न सकी दोष, राजनीति के विचार से ।
किन्तु मेरे सम्मुख निरीह शिशुओं की भी
तुमने नृशंस-कंस-तुल्य जब हत्या की ,

पाया तब मै ने तुम्हे कायर ही अन्त में ।
और—"
"रहो, मेरी सुनो, रानकदे, ठहरो ।
मारा नहीं मै ने शिशुओ को भावि-भय से ,
मेंट दिये पाप-चिन्ह मात्र निज वैरी के ।
मेरी चिर प्रेयसी का यौवन अखंड है ,
उस पर किन्तु घात करने चले थे वे ।"
"तो क्या तुम चाहते हो, प्रभु से मनाऊँ मै—
यौवन बिगाड़ने तुम्हारी किसी रानी का
आवे नहीं कोई शिशु-पुत्र कभी कोख में ?
किन्तु हा ! तुम्हारे अर्थ भी मै यह प्रार्थना
कैसे करूँ ? मैं तो चाहती हूँ, पुत्र-प्रेम का
ज्ञान हो तुम्हें भी, तुम जानो वह वस्तु क्या ।
किन्तु हमें प्राप्य वही, प्रभु को जो देय है ।"
"आप मुझसे क्या कहती हो अब, कह दो ।"
"मेरे लिए एक चिता चुनने की आज्ञा दो ,
और सिर ला दो मुझे मेरे पति-देव का ।"
"ऐसा नहीं हो सकता, खो दूँ निज निधि मैं ?

देखूँ, मुझे कौन रोकता है तुम्हें पाने से ?"
हो गई विमुख सती संकुचित भाव से,
पागल की भाँति राजा धरने चला उसे।
छोड़ दिया किन्तु हाथ उसने पकड़ के,
जीवित का हाथ न हो जैसे वह, मृत का !
चिल्ला उठी रानकदे—"पापी पशु !" कहके।

"सावधान !" बोला जगद्देव घुस घर में—
"भार है सती के पर्यवेक्षण का मुझको।"
"किससे नियुक्त तुम ?"
"जेता जयसिंह से।"
"मैं वह नहीं हूँ ?"
"तुम कोई व्यभिचारी हो,
कामी-क्रूर-कापुरुष !"
"सिद्धराज क्या हुआ ?"
"मर गया, हाय ! तुम पापी प्रेत उसके !"
ओंठ काटे राजा ने—"अभी मैं बतलाता हूँ,
मृत हूँ या जीवित हूँ, प्रेत हूँ या सत्य हूँ।"

"सत्य जो तुम्हीं हो जयसिंहदेव सोलंकी,
हाय! तो अरक्षित है अब हम सब के
अन्तःपुर। महाराज, अब भी समय है,
शाप न लो आप क्षमा माँगो सती देवी से।
देव होते होते तुम दैत्य हो उठे हो क्यों?"
"जैसे राजभक्त राजद्रोही तुम हो उठे!"
"यदि यह राजद्रोह तो मैं राजविद्रोही,
लाख बार, साख के बिना ही किसी और की।
कोई कहे, कौन बड़ा धर्म आज इससे?"
"मेरे सामने से हट जाओ तुम, दूर हो।"
"काल भी समर्थ नहीं वीर को हटाने में,
किन्तु कहाँ जाऊँ, किसे मुख दिखलाऊँ मैं?
वध्य मानता हूँ तुम्हें, तो भी अन्य मार्ग है।
मेरे रक्षणीय तुम, मेरी यह असि लो,
और मार डालो मुझे, पतन तुम्हारा मैं
देख नहीं सकता हूँ। बस, मरता हुआ
मार के बचालूँ इस अपनी बहन को!"
दे दी असि वीर ने, छुरी निकाल रख ली।

"बन्धु मेरे !" बोल उठी रानकदे आर्त्त-सी—
"पाप शान्त होगा बस मेरे मारने से ही ;
पुण्य कौन होगा अन्य इससे बड़ा तुम्हे ।
तुम क्यो मरोगे हाय, खम्भ इस पृथ्वी के ?"
"बहन, न व्याकुल हो मेरे लिए व्यर्थ तू ,
ऐसा मरना तो आप चाहेंगे अमर भी ।
सोचा करता था यह बात मै कभी कभी—
मै ने पारतंत्र्य-पाप स्वीकृत किया है क्यो ?
ज्ञात हुआ आज, यह पुण्य मुझे पाना था !
भूल गया दुःख अब मालव-वियोग का ;
रक्खा था भविष्य मेरा भद्र ही भवानी ने ।"

लेकर भी शाणित कृपाण निज कर में ,
स्तब्ध जयसिंह वहाँ जड़-सा खड़ा रहा
देर तक; हत मुख-तेज, नत नेत्र थे ।
फेंक कर खड्ग, खर-दृष्टि डाल अन्त में
रानक की ओर, और एक लम्बी साँस ले
लौट, धीरे धीरे वह बाहर चला गया ।

अन्ततः विकार उपचार-साध्य होते है,
माना उसने भी उपकार ही पमार का।
था सन्तोष किन्तु यही वीर जगद्देव को—
लाज रही रानक की, साध्वी सती हो गई।

सोरठ का रागिनी में गूंजती है आज भी
उस हतभागिनी की पीड़ा बड़-भागिनी!
अक्षय-सुहाग-भरी, त्याग-भरी तान है,
कितनी विराग-अनुराग-भरी मूर्च्छना!

चतुर्थ सर्ग

भूल इस भव में मनुष्य से ही होती है,
अन्त में सुधारता है उसको मनुष्य ही।
किन्तु वह चूक हाय! जिसके सुधार का
रहता उपाय नहीं, हूक बन जाती है,
और जन-जीवन बिगड़ जैसे जाता है।

बैठके अकेला सिद्धराज यही सोचता—
"दाँतों तले तृण रखने के लिए राना को

करता न वाध्य यदि उस दिन आप मैं ,
तो यह अनर्थ नहीं होता इतना बड़ा ।
क्यों खंगार काट जाता मेरी यह नाक-सी ?
होता वह मेरा ही, हुआ है जगद्देव ज्यों ।
और, होती रानकदे जैसी मणि मेरी ही ;
मरते क्यों मानी कुल-जात मेरी रानी के ?
और वह ताप उसे सहना क्यों पड़ता ,
जिससे सुसह्य हुआ दहना भी आग में ?
विजित विपक्ष के समक्ष नति नीति है ,
किन्तु सिद्धराज जयसिंह, यह क्या किया ,
तू ने बना डाला हाय ! पशु ही पुरुष को ,—
मृग-तृण-भोजी किया सिंह-मान-भागी को !
प्रायश्चित्त करना ही होगा इस पाप का ।"

राजा राज-काज सब करता था अपना ;
फिर भी हताश-सा उदास वह रहता ।
उद्यम तो किन्तु असन्तोष में ही होता है ,
महता मुंजाल यही सोचता था मन में—

"गुर्जर-साम्राज्य मेरा स्वप्न ही रहेगा क्या ?"
जीवित थी राज-माता मीनलदे तब भी ,
मन्त्रणा की उससे स्वतन्त्र महा मन्त्री ने ;
और मन्त्रणा के अनुसार राजमाता ने
सहसा अस्वस्थता से शय्या की शरण ली ।

वैद्यों के लिए क्या कमी व्याधियों की देह में ?
यों भी पूर्ण स्वस्थ कहाँ कौन रह पाता है ?
घेरे एक एक को है सौ सौ यहाँ बाधाएँ;
जितनी उपाधि जिसे, आधि-व्याधि उतनी ।
बैठे थे स्वजन घेरे, चिन्तित-से थे सभी ,
राजमाता आप चुपचाप आर्त्त लेटी थीं ।
काँखना भी अच्छा कभी मौन की अपेक्षा है ,
जीवन की आहट तो मिलती है उसमें ;
किन्तु राज-जननी अचेत न थीं, मौन थीं ।

कांचनदे कांचन की पुतली-सी उसकी ,
जो थी जयसिंह की कुमारी कुल-कलिका ,

ओषधि का रत्न-पात्र देने चली दादी को,
किन्तु 'नहीं' सुन, हँस बोली—"बड़ी मीठी है!"
हँस पड़े लोग सब और स्वयं रोगिणी।
"क्यो री, यह पुरखा हुई तू कह, कब से?
बच्चो-सा मुझे भी बहलाने जो चली है यो?
बोल, तेरी दादी मैं कि दादी आप मेरी तू?"
बोल उठा सिद्धराज उत्तर मे बेटी के—
"बाल और वृद्ध दोनो एक से ही होते है,
अन्यथा न लेतीं तुम ओषधि भी आप क्यों?
ऐसा कुछ दोष नहीं, वैद्य बतलाते है,
फिर भी उपेक्षा करना क्या कभी ठीक है?"
"किन्तु बाल और वृद्ध जानें वह बात क्या?
ओषधि के साथ उन्हे और कुछ चाहिए।"
"बहुधा कुपथ्य ही तो रोगियो को भाता है,
अन्यथा अपेक्षित क्या अम्ब, तुम्हे, मैं सुनूँ।"
"बेटा चिर शान्ति! अब इच्छा यही मेरी है;
फिर भी मनुष्य मन, हाय! तन रहते
तुष्ट नही होता कभी, लोग जाते जाते भी

और कुछ देख जाना चाहते है जग में ;
मुँदती हुई भी खुली ऑखे रह जाती है !
तुझ-सा सपूत पाया और मुझे पाना क्या ?
किन्तु पुत्र पाकर भी पौत्र यहाँ चाहिए !
दाता है विधाता, शुभ उसका विधान है।
और—"

"और क्या माँ, कहो ?"

"कुछ नहीं"

"हाय माँ!

कहने से भीषण है कहके न कहना।"
"किन्तु तीक्ष्ण शस्त्रों के व्रणों से तू बचा रहे,
क्यो न एक कॉटा रह जाय मेरे मन में ;
अन्ततः मै जननी हूँ।"

"वीर-जननी नहीं ?"

बोला जयसिह चौक--"मै क्या भीरु-पुत्र हूँ ?"
"मानी तू, तथापि अब कहना पड़ेगा ही।
वैरियो से वैर अपना ही लिया तू ने है,
भूल बैठा अपने पिता का पराभव तू—

शाकम्भरी अथवा सपादलक्ष वालो से !
धन्य तेरा वैरी वह सोरठ का राना ही ,
जूझ गया लेने को पितामह का वैर जो ।
तो भी जा रही मै देख तुझको समर्थ ही ।"
"नहीं नहीं, रहना पड़ेगा अभी तुमको ,
देख लो सपादलक्ष पादो मे पड़ा हुआ ।
माँ, क्षमा करो माँ, मत जाओ तुम दुःखिनी ,
सुख न मिलेगा मुझे इससे, न तात को ।"

राजा का बुझा-सा मन दीप्त फिर हो उठा—
"ओ खंगार ! ओ खंगार ! पिछड़ा यहाँ भी मै ;
प्रेत हो तू पीछे पड़ा !" कह के विजन में ,
दाँत पीस, मुट्ठी बाँध, उसने उसाँस ली ।
टहल रहा था वह पंजर का सिह-सा ;
बोला कुछ शान्त हो के आप सुनता हुआ—
"किन्तु जान पडता है, देख नहीं पावेगी
पौत्र-मुख जननी, अपुत्र ही मै जाऊँगा ।"
रानक के बच्चो पर ध्यान गया उसका ,

दीख पड़े सम्मुख पड़े वे सने रक्त में।
पैर उठके भी नहीं आगे पड़ा उसका,
ठिठका खड़ा था वह काठ हुआ कक्ष में।
रानक की मौन-वाणी गूँज गई मन में—
'यौवन विगाड़ने तुम्हारी किसी रानी का,
आवे नहीं कोई शिशु पुत्र कभी कोख में।'—
देखता था कौन वे दो आँसू अन्धकार में,
सुनती थी नीरवता उनकी टपक ही।
देखी दर्शकों ने तो अरुणिमा ही अग्नि की
उसके दृगों में, यही जीवन की गति है—
आता वह बाहर है भीतर से उलटा!

आज भी अनूप 'आना-सागर' है जिसका,
युवक सवाई धनी था सपादलक्ष का,
अर्णोराज। किन्तु उस पाटन के भाग्य के
कोटिक्रम-सम्मुख चली न कुछ उसकी।
था लावण्य भूरि भूरि साँभर की झील में,
किन्तु उमड़ा था क्षार सिन्धु गुजरात से!

सार फिर भी है सार, कट कर काटे जो ।
बान नहीं छोड़ते है वीर, भले वन्दी हो ,
आन मानते हैं, हार जीत नहीं जानते ।
वन्दी हुआ अर्णोराज, तो भी सिद्धराज की
वन्दना तो वन्दियों ने ही की, नहीं उसने ।

किन्तु घर लाया वह जेता जब उसको
माता के समक्ष, तब उस नर वीर ने
उसको प्रणाम किया झुक के विनय से ;
श्रद्धा-योग्य शत्रु की भी वृद्धा अपनी-सी हो ।
तुष्ट हुई राज-जननी भी उसे देख के
शिष्ट, 'शुभमस्तु' कह बोली फिर उससे—
"वैर था तुम्हारे पुरखों से हम लोगों का ,
पूरा हो चुका है वह; वैरिकुल जात भी
घर के-से लड़के हो मेरे लिए तुम तो ।
और, मेरे पुत्र ने किया जो, वही तुम भी
करते, न करते क्या वैसी परिस्थिति में ?
उचित यही है अब, द्वेष तजो मन से ।"

बोला भद्रता से हँस अर्णोराज उससे—
"माता नहीं, मातामही-तुल्य आप मेरी हैं ;
किन्तु ऐसा हीन यह बच्चा नहीं आपका ,
मृत्यु-भय से भी कहीं हीनता दिखावे जो।"
"दीन तुम थोड़े ही, धनी हो एक देश के ;
जो अप्राप्य होगा उसे हम भी न चाहेंगे।
तो भी वत्स, एक बात तुम मत भूलना ,
छोड़ना विनय भी न, दीनता के भय से ;
मिष्टाहार से भी इष्ट शिष्टाचार होता है ;
ठूँठे काठ के हो योग्य पाठ झूँठी ऐंठ का।"
"मेरे घर भी थीं बड़ी-बूढ़ी आप जैसी ही ,
और सीख पाने का सुयोग मै ने पाया है।"
हँसी राजमाता—"बड़े और बूढ़े क्या करे ,
कर्म के अयोग्य जन वाणी पर जीते है।"
"अग्रभव पाकर भी अनुभव देते है !"
अर्णोराज ने ही वाक्य पूरा किया उसका ;
हो गये प्रसन्न सब उक्ति सुन उसकी।
भूला जयसिंह स्वयं अपने विषय में

उद्धतता उसकी; भली ही यह भेंट थी।

मन्त्री महता ने कहा—"राजातिथि-रूप में
गढ़ में ही आपके निवास की व्यवस्था है ;
नियम न निश्चित हो जब तक सन्धि के।"
हँस गया अर्णोराज और वह बोला यों—
"बन्दी के लिए क्या गढ़ और अनगढ़ क्या ?
उसके लिए तो दृढ़ता ही देखने की है !
रक्खेंगे तथापि आप गढ़ में जो मुझको ,
तो मैं अविश्वासी नहीं सिद्ध हूँगा आपका ;
रक्खें या न रक्खें आप मेरे लिए प्रहरी।"
"किन्तु राज-द्वार कभी सूने नहीं रहते।"
"इसका क्या कहना है" मानी मौन हो गया ;
मानो यह विधि भी उसे थी बाध्य करती।
हो गया अरुण मुख तत्क्षण तरुण का ;
देखा उसे सब ने सहानुभूति-दृष्टि से।
देख नहीं पाई एक कांचनदे ठीक से ,
आँखें भर आई अकस्मात राज-पुत्री की।

राजवन्दी राजा पर आई उसे ममता ,
चाहा राजनन्दिनी ने वह परितुष्ट हो ।
सहज उपाय कोई सूझा नहीं इसका ,
तव समवेदना की वृद्धि हुई और भी ,
और वाधा देख कर आग्रह-सा आ गया ;
उसका अलक्ष पक्षपात उसे हो उठा ।
सोचने लगी यों वह उसके विषय में—
"कितना अभीत वह, कितना विनीत है ।
कैसा भद्र, कैसा भला और कैसा भोला है !
दीप्त भाल, काले वाल, नयन विशाल क्या ,
भृकुटी कुटिल और नासा क्या सरल है ।
लाल लाल होंठ हँसना ही सदा चाहते ,
किन्तु वीच वीच में कठोरता झलकती ।
हाथ लंबे लंबे और वक्ष चौडा चौड़ा है ;
डग है अडग जैसे धरती दवाये-से !
होकर अकेला भी विपक्षियो के वीच में ,
कहता है कैसे अनायास वात अपनी ;
हारा, किन्तु आन-वान हारी नही उसने ।

वाणी अर्थ-पूर्ण अहा ! स्वर क्या गभीर है ,
मानो किसी अन्य को अपेक्षा नहीं उसको ;
मानो परिपूर्ण वह आप अपने में ही !"

और कहीं चित्त नहीं लगता था उसका ,
सूना तन छोड़ मन जाता था वहीं वहीं ।
'आह !' नींद आई उसे रात बड़ी देर में ,
और वह जाग पड़ी बहुत सवेरे ही ।
कौन कहे, उसने क्या स्वप्न देखा सोते में ,
आप भी "न जानें" कह मौन वह हो रही ।
दादी ने कहा—"तू अरी, अनमनी आज क्यों ?"
"सचमुच !" बोली वह—"जो न जाने कैसा है ।
सोचती रही मैं रात बात बन्दी राजा की ,
एक ही विचार बार बार उठता रहा—
औरों को गिराये बिना, उठ कर आप ही ,
हम क्या महान नहीं हो सकते लोक में ?"
"ऐसे शक्तिशाली तो निवृत्ति-मार्ग वाले हों ,
संघर्षण और होड़ा होड़ी ही प्रवृत्ति में ।"

"एक मात्र स्वार्थ ही क्या उसमें उपास्य है ?"
"अपना बना के छोड़ देना कौन थोड़ा है ?"
"शाकम्भरी-भूप पर ममता-सी होती है।"
"किन्तु दया करने न जाना उस पर तू,
भेंट पाने वाले लोग दान नहीं लेते हैं।
विनयी सपूत मेरे, तेरे जयी तात ने
छोड़ दिया निर्णय मुझी पर है उसका ;
हूँगी अनुदार न मैं, जा, तू गढ़ घूम आ।"
होकर कृतार्थ-सी सहर्ष राजनन्दिनी,
लेकर सखी को साथ, बाहर चली गई।
दादी ओट होने तक मौन उसे देखा की,
महता प्रधान को बुलाया फिर उसने।

कांचनदे मानो दुर्ग-देवी अधिष्ठात्री थी ;
सायंप्रात पर्यटन करने निकलती,
और क्षेम पूछ आती क्षुद्र सेवकों से भी।
मानता उसे था सब कोई यह जान के—
आई यह जन्म ले के माता उस जन्म की।

खिल उठती है यथा लतिका वसन्त में ,
हँस हिलकोरे वायु लहरी के लेती है ,
घोल मधुगन्ध डोल इधर उधर त्यो
बोल उठी बाला—"ओ दिवाली!" कह आली से—
"वन्दी, किन्तु राजा और घर में अतिथि-से ,
जानना न चाहिए क्या योगक्षेम उनका ?"
"इसमें मुझे तो कुछ दोष नहीं दीखता ,
मन्दिर से लौट कर आना उसी ओर से ।"

पहुँची परन्तु ज्यो ही मन्दिर में सुंदरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द में ,
लौटा जा रहा था देव-दर्शन जो करके ,
तद्गत हो मानों देव हो उठा था आप भी ।
ललित-गभीर, गौर, गौरव का गृह-सा ,
एकाकी विलोक जिसे गरिमा ने भेंटा था ।
आडम्बर-शून्य शुद्ध केवल स्वतः-स्वयं !
तो भी भय-हीन मानों अपने विषय में ।
उत्तरीय ओढ़े और पीताम्बर पहने ,

झूलती गले में थी प्रसाद-माला फूलों की।
संकुचित होके कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
वन्दी के समक्ष स्वयं वन्दिनी-सी हो उठी !
आके जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था, अवलम्ब लिया जिसका !
हो गये अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कब तक झिलता ?
आहा ! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई।

अर्णोराज को भी कुछ ऐसी ही दशा हुई।
विस्मय उसे था, नई मूर्ति किस देवी की—
आ गई अभी अभी कहाँ से यह है यहाँ ?
मानों नवयौवन की लक्ष्मी यह प्रकटी,
जीर्ण-शीर्ण, दीन-हीन होगी नहीं जगती
आगे अब, लौट गत वैभव भी आवेगा !
पीछे नृप के था एक विप्र-वर द्रोण-सा,
नाम उसका भी काक, भट वह साहसी,
उच्च अधिकारी, अन्तरंग जयसिंह का।

दोनो को सँभाला समुपस्थिति ने उसकी ।
सादर "प्रणाम भटकाका !" कहा बाला ने ;
बढ़ कर "जीती रह" कह कर विप्र ने
सिर पर हाथ फेर प्यार किया उसको ।
"कर लिया काकाभट तू ने काकभट को ,
सुध सब पंछियो की तू ही यहाँ लेती है ।
शाकम्भरी भूपवर अपने अतिथि ये ।"
घूम हँस हाथ जोड़, मुख रख नीचा ही ,
मौन नमस्कार किया उसने नृपति को ।
तो भी बिम्ब दीख गया स्वच्छ गच मे उसे ,
चाँदी के सलिल में ज्यों सोने को कमलिनी
देती थी पुलक-पाद्य नत हो अरुण को !"
आदर से "स्वस्ति" कह स्वीकृति दी राजा ने ,
देखा उस मुग्धा को विदग्धता से उसने !
क्या संकोच दूर करने को ही, प्रयत्न से ,
बोली किसी भाँति वह भोली—"आप अच्छे हैं ?"
"रात नहीं भागा यही प्रातःक्षेम वन्दो का !"
लज्जित-सी बाला हुई । बोला तब भट यों—

"भाग बचते हैं हट दूसरे ही भाग्य से ,
डट सकते हैं आप, हट सकते नहीं ।
जो हो, यह लड़की हमारे राजगृह में ,
लेकर दरिद्र का-सा आर्द्र उर आई है ,—
भूली और भटकी, न जाने किस लोक से !
और पूछती है, पूछ बेटी, पूछता है क्या ?
भाती है विशेष तुझे बातें देश देश की ।"
मिथ्या-कोप-दृष्टि डाली उस पर बाला ने ;
बोला नृप नम्रता से "कहिए क्या आज्ञा है ?
निन्दा ही भली है भटराज की प्रशंसा से ।"
"अधिक असुविधा तो आपको नहीं यहाँ ?"
"धन्यवाद ! जो जो मुझे प्राप्य सो सभी तो है ,
दुर्लभ है और कहीं ऐसी सहृदयता ।"
"ऐसा ह्रद एक सुना मैं ने आपके यहाँ ,
जो भी गिरे उसमें, सलौना बन जाता है ।
अद्‌भुत है !" राजा मुसकाया और बोला "हाँ"
"मधुर रहेगी तू वहाँ भी !" कहा भट ने ।
"निस्सन्देह ?" अर्णोराज बोला, किन्तु बाला ने

फिर कहा—"अद्भुत है ! और क्या क्या है वहाँ ?"
"पुण्यतीर्थ पुष्कर है, मन्दिर है ब्रह्मा का ।"
"दाता है विधाता, शुभ उसका विधान है !"
दादी के कहे ये शब्द पोती दुहरा गई,
मानो अनजान में ही, यद्यपि प्रसंग से ।
तो भी सब विस्मित थे स्मित उसका मिटा ।
"काका ! उस मन्दिर में पूजन करूँगी मैं ।"
"यह क्या कठिन, तुझे ले चलूँगा आप मैं ।
तारागढ़ भी है वहाँ, वह अजमेरु है ।
किन्तु एक साँस में ही घूम लेगी सब क्या ?
उत्सुक ही जाय श्रोता वक्ता के निकट से ।
देर अब होगी और दादी बाट देखेगी ;
आन्हिक समय से ही सांगोपांग होते हैं ।"

अन्ततः अभाव ही भिदा है हा ! विदा में तो ;
चौंक पड़ी कांचनदे स्वप्न-सा निरख के ;
लौट झट भट को बुलाया फिर उसने ।
घूमा वह और फिरा अर्णोराज साथ ही ;

दो की चार आँखें हुईं और दोनों सकुचे।
"काका, बड़ी बा की ओर आज क्या न आओगे?"
झट हँस बोला—"यह आशा तू न रखना
ब्राह्मण से, जो कभी प्रसाद तेरा छोड़ेगा!"
दृष्टि अर्णोराज पर डाली अब बाला ने
और इस बार मुख सस्मित थे दोनो के!

कांचनदे ठीक देव-दर्शन न पा सकी,
आ आ गया आगे अहा! आज अर्णोराज हो।
किंवा स्वयं देव ने ही रक्खा रूप उसका,
और किया बाला ने समर्पण-सा अपना।
एक क्षण ऐसा इस जीवन में आता है,
एक दृष्टि में जो नई सृष्टि रच जाता है।
यौवन का बोध अकस्मात ही तो होता है;
मुग्धा एक पल में ही मध्या बन जाती है!
खिंच खिंच जाता कहीं मन जब तन से
भाता है विशेष तब जन को विजन ही।

"जो संकोच घटता है परिचय होने से
हाय ! वही बढ़ता है मुझमें न जाने क्यों ?
नीचा मुख रक्खे दृष्टि ऊँची कर, यत्न से ,
मैं ने उन्हे देखा है, उन्होने तो नहीं मुझे ?
रह रह कम्प रोम-हर्ष हो रहा है क्यों ?
अनुभव होता है मुझे क्यो यह ताप का ?"

किन्तु राजनन्दिनी को रोग न था, राग था ;
प्रेम भूख-नींद ही भुलाता हुआ आता है।
जाती थी सवेग उसी ओर वह मन से ,
आती थी परन्तु लौट चंचल किरण-सी !
और दिन कटता था ऐसी दौड़-धूप में ,
रात तारिकाएँ चिनगारियाँ-सी लगतीं !

वन्दी पर कैसी बीतती थी, वही जानता ,
पैठते थे श्वास-शर निकल निकल के ;
सहता सभी था वीर, कुछ कहता न था।

कटी तीन रातें, क्या प्रभात नहीं तब भा ?
चौथे दिन महता प्रधान मिला उससे ;
लिया उसे उसने धड़कते हृदय से ।
शिष्टाचार होने पर पूछा महामन्त्री ने—
"निश्चय रहा क्या सन्धि-विषयक आपका ?"
"निश्चय दो होते नहीं मेरे किसी बात में ,
करद न हूँगा, मित्र होकर रहूँगा मैं ।"
चढ़ गई भौंह कुछ प्रमुख सचिव की—
"निश्चय तो एक करते है स्वयं हम भी ,
किन्तु सौ सौ वार भी विचार किया जाता है ;
भूल सकते है हम ।"
"किन्तु किसी भूल का
जब तक बोध न हो, शोध का उपाय क्या ?"
"स्वीकृत विचारों की विरोध-शंका होने से
सत्य से भी बच के निकल जाते लोग है ।
सिंह भी परम्परा के सम्मुख शृगाल है ,
एक दृष्टि-कोण से ही पूर्ण नहीं दीखता ।"
"किन्तु किसी दृष्टि से भी कोई क्यों न देख ले ,

हार नहीं मानता मैं व्यक्तिगत रूप से।
लोक-संग्रही हो आप चाहे जितने बड़े।"
"धन्यवाद; लोक के हो अर्थ धन चाहिए,
और आप कृपया कृपणता न कीजिए!"
राजा और राजमन्त्री दोनो हँसने लगे।
"आप लोक-संग्रह क्यो करते है इतना,
लेना पडे दूसरों से दान जिसके लिए?
"दान?" हँसा महता—"सहायता भी क्या नहीं?"
"होती कहीं हाय! वह वस्तुतः सहायता,
दीख पड़ती है मुझे उसमें विवशता।"
"वाध्य होगे हम भी तो संरक्षण के लिए।"
"ऐसी वाध्यता में भी प्रभुत्व भरा होता है।"
"औरो पर आपने प्रभुत्व क्या नहीं किया?
आपके लिए ही क्या सपादलक्ष है बना?"
"उसके लिए मैं बना, यह तो यथार्थ है;
और मेरे शासन की उसको अपेक्षा थी।"
"साधु! साधु! आपके विना भी अब उसका
काम चल सकता है, जैसे चलता रहा।

किन्तु हम चाहते हैं आपको ही अब भी ,
तो भी माननीय वही जो है लोकसंग्रही ।
मानके बड़े को बड़ा आप छोटे होंगे क्या ?
देके हमें थोड़ा क्या बहुत न पायँगे ?
खर्व पर किन्तु आप छोडते है सर्व ही !"
"राज्य रहे, जाय, परतन्त्र नहीं हूँगा मैं ,
वन्दी रहूँ, मन से स्वतन्त्र ही रहूँगा मैं ।"
"विनती करूँगा सिद्धराज से मैं, आपको
तन की स्वतन्त्रता भी देने की दया करें !"
"नहीं, नहीं," बोल उठा अर्णोराज व्यग्र हो ।
"आह ! क्या स्वतन्त्रता भी आप नहीं चाहते ?"
"नहीं नहीं, चाहता नहीं मै दया उनकी ।"
"तो क्या भय-पूर्वक वे मुक्ति देंगे आपको ?"
"यह उपहास मेरा ऐसी परिस्थिति में ।"
"मेरा नहीं, दैव का किया ही इसे जानिए ,
वीर, मै सहानुभूति रखता हूँ आप से ।"
"आह ! क्या करूँ मै, मुझे आप ही बताइए ।
आप राजमन्त्री, नाम का ही सही, राजा मै ।"

"किन्तु महाराज, मैं हूँ मन्त्री प्रतिपक्ष का।"
"शत्रु को भी पाप-मन्त्र शूर नहीं देते है ;
क्रूर कायरो के काम होगे नहीं आप से ?"
"प्रत्यय के योग्य मुझे मानते हैं आप क्या ?"
"व्यक्तिगत भाव से हाँ, भावुक उसीका मै।
होता अविश्वस्त यदि अपने विषय में,
तो मै अविश्वास भले आप पर करता।"

"अच्छा यदि आप कर देना नहीं चाहते,
तो हमारे दान को ही अंगीकार कीजिए।"
"धोखा !" चौंक चिल्ला पड़ा राजा उठ रोष से।
महता परन्तु हँसता ही रहा, बोला यों—
"मै क्या करूँ भाग्य ही है ऐसा कुछ आप का
कन्या-दान लेना ही पड़ेगा सिद्धराज से !"
डूब बचा अर्णोराज मानो सुधासिन्धु में।

आली गई और बोली व्यंग कर बाला से—
"वन्दी, किन्तु राजा और घर में अतिथि-से,

पूछना न चाहिए क्या योग-क्षेम उनका ?"
भृकुटि चढ़ा के उसे देख खर-दृष्टि से ,
बोली वह—"इसके लिए क्या मैं नियुक्त हूँ ,
जाऊँ नित्य नित्य जो ? न जाऊँगी न जाऊँगी !"
"ठीक बात ! राजा रहे, बन्दी थे हमारे तो ।—"
"किन्तु अब भी हैं वे स्वतन्त्र निज मन से ।"
"मेरा भाव था, क्यों तुम जाओगी भला वहाँ ?"
"किन्तु यदि जाऊँ, कौन रोक लेगा मुझको ?
जाती हूँ अभी मैं ।" किन्तु कांचनदे बैठी थी ।
"जाना चाहती हो, किन्तु जाते नहीं बनता ,
आयँगे स्वयं ही अब और कर धर के ,—
दुःख यही,—लेकर तुम्हें वे चले जायँगे !"
दौड़ कर आली गले लग गई बाला के ;
गद्गद थीं दोनों किन्तु हर्ष से या दुःख से ।

एक पुत्री, वह भी पराई हुई अन्त में !
व्यग्र सिद्धराज विजयार्थ गया घर से ।
जाय कहीं, आगे चलती थी जय उसके ,

सिन्धु-सिकता भी फली मालव-सी उसको ।
किन्तु वन्दी सिन्धुराज आया जब सामने
चौंका वह देख उसे, एक आह निकली ,
रानक की आकृति का ध्यान आया सहसा ;
खोले अरि-बन्धन स्वयं ही उठ उसने ।

पंचम सर्ग

एक पुत्र छोड़ सब पाया सिद्धराज ने।

दुस्सह प्रताप-तेज उस प्रभविष्णु का,
लोग बचते-से चलते थे सावधान हो;
किन्तु मृदु हो रहा था मन अब उसका;
आप वही आ रहा था सबके समीप-सा।
अपने उपास्य के ललाट पर, ध्यान में,
नित्य देखता था वह, तीसरे नयन में,

ओढ़ के पलक-पट शान्त कालानल है ;
झलक रहा है कान्त शीतल सुधांशु ही ।

होकर भी आप वह भक्त शिव-शक्ति का ,
भावुक था दूसरो की धर्म-भावना का भी ।
शस्त्रो के सदृश ही सुमार्मिक था शास्त्रो का ;
तार्किको के तर्कवाद सुनता था रुचि से ,
और मल्ल-क्रीड़ा के समान मोद पाता था ।
फूली-फली ललित कलाएँ उस भूप से ;
फैल चार बैठा शिल्प मन्दिरों में उसके ।
देकर विपुल द्रव्य उस वह दानी ने
जीर्णोद्धार जैन मन्दिरों का भी कराया था ;
और, हेमचन्द्र जैसे सूरि उस शूर से
मानते कृतार्थ अपने को भूरि भूरि थे ।
जानते थे सफल कृती वे निज कृति को ;
'हेम' के प्रथम 'सिद्ध' नाम जोड़ उसका ।
जैन फिर भी थे आर्य, इतर विजाति भी ,
नाते से प्रजा के, न्याय पाते उस राजा से ।

थे खंभात में कुछ मुसलमान रहते ,
पावक-पुजारियों से उनका विरोध था ।
आर्य उकसाये गये सोमनाथ-स्मृति से ,
ढा दी गई मूर्तिभंजकों की मसजिद भी ;
आप भी वे मारे गये । उनके खतीव ने
भाग बच, पाटन मे आकर पुकार की ।
किन्तु सधे द्वारियों ने घुसने नहीं दिया ,
राजा की सभा में, म्लेच्छ कह कर उसको ।
तो भी क्या खतीव रुका, मृगया में उसने
राजा को सुनाई सब अपनी व्यथा-कथा—
"रहते सभी है उस ईश्वर की सृष्टि में ,
हमको ठिकाना नहीं राज्य में क्या आपके ?"
देखा उसे घूर कर और कहा राजा ने—
"ईश्वर की सृष्टि मे रहेगे सब, फिर भी
मन्दिर गिरेगा तो गिरेगी मसजिद भी ।
ठहर परन्तु तू, करूँगा पड़ताल मै ।"

भेजा नहीं दूसरे को पक्षपात-भय से ,

गुप-चुप जाके आप देखा-सुना राजा ने ।
ऐसा श्रम उसने उठाया शीघ्र यात्रा का ,
मानों कहीं बाहर गया ही न था घर से ।
दोषियो को दण्ड मिला, साथ ही खतीब ने
पाया पुरस्कार, कहा उससे महीप ने—
"जाओ, डर छोड़ तुम अपनी अजान दो ,
और गा-बजा कर उतारे हम आरती ।
ऊँचे चढ़ देखो तुम उसकी अनन्तता ,
और उसे खोजें हम आप अपने में ही ।
कह दो पुकार कर तुम—वह एक है ,
और हम पावें उसे चाहे जिस रूप में ।
ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं ,
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का ।"

एक बार दूर कहीं मृगया-विहार में ,
पूछा उसने यों किसी ग्रामवासी जन से—
"तुझको अभाव किस वस्तु का है, कह तू ।"
"खेत-कुवाँ है तो और इष्ट क्या किसान को ?

और गीत-गान है तो कष्ट क्या थकान का ?"
"तो भी ?"
"कई काम एक साथ एसे आ गये,
और पुरखो का बड़ा नाम था समाज में ;
लेना पड़ा थोड़ा ऋण मुझको पड़ोसी से ।
किन्तु असमर्थ नहीं, शीघ्र चुका दूँगा मैं ।"
"पर न चुकाना पड़े तो यह भला न हो ?"
"खोटा, भला लेकर न दूँ तो मैं रहूँ कहाँ ?
जौ जौ तक लेना और सौ सौ तक देना है ।"
"किन्तु यदि मैं ही कहूँ तू न दे, तो फिर क्या ?"
"तो सामर्थ्य किसका है ले सके जो मुझसे ?
तो भी यह सत्य है, ऋणी तो मैं रहूँगा ही ;
मुझको चुकाना ही पड़ेगा परजन्म में ।"

ऋण ही चुकाया नहीं उसका नृपति ने
आप उसको भी पुरस्कार दिया प्रेम से ।
कहते हैं, उसने प्रजा का ऋण भर के
साका किया और निज संवत चला दिया ।

ज्ञाता और गुणियों से, वीर तथा धीरों से
उसकी सभा थी परिपूर्ण सभी ओर से।
एक बार आके एक चारण ने यों कहा—
"पाटन की राज-सभा मानों है महोबे की!"
चौंका नृप चारण की बात सुन ईर्ष्या से,
सहता अन्यत्र नहीं मान अपने को ही!
पूछा तब उसने महोवे के विषय में,
देखा-सुना जैसा था, बताया बारहट ने—
"एक एक रत्न धरे बैठी है वसुन्धरा
एक एक अंचल में, अतुल-अमूल्य जो;
देश देश की है एक अपनी विशेषता।
केन्द्र है प्रदेश वह मानों आर्य देश का।
नर-मुनि-देव सर्व अन्न वहाँ होते है,
साथ ही उपजते है रत्न-राज हीरे भी।
वन है वहाँ के उपवन-से प्रकृति के,
और पुर-ग्राम पुरुषार्थ-से पुरुष के!
चर्चा भला फूलों की, फलों की क्या चलाऊँ मैं;
कठिन बखान है वहाँ के पान-पत्तों का;

कायर भी वीर बन जायँ बीड़ा लेने को !
पानी नहीं, मानो मान पीते वहाँ मानी हैं।
झेल सकता है कौन उष्णता भी उनकी ?
दुर्लभ है दूसरों को वैसी चारु चन्द्रिका,
औरों से अधिक रविचन्द्र भी है उनके।
ऋतुएँ है और वहाँ उत्सव हैं उनके ;
पर्व है परम्परा के गर्व उन्हें उनका।
पशुओं में पशुता, मनुष्यों में मनुष्यता ;
किन्तु विहगों में तो विचित्रता ही है वहाँ।
उर्वर वहाँ का उरः-क्षेत्र भी अपूर्व है ;
पूर्ण वायु-मंडल है गीतों से, कवित्वों से ;
वेदना भी केसर की कटुता-सी उनको !
रीति, नीति, प्रीति वहाँ प्रभु की प्रतीति है ;
किन्तु अकर्मण्यता नहीं है भाग्य रोने की।
पर्वत दिये है उन्हें उनकी धरित्री ने,
गढ़ दृढ़ दुर्ग दिये उसको उन्होंने है,
उपमा न पाकर बने है उपमान जो।
मन्दिरों में दर्शन हों चाहे जिस मूर्त्ति के,

प्रथम प्रतिष्ठा वहाँ होती है कला की ही !
खोदकर शिल्पियो ने हृदय निकाले है
कौशलो के; विस्फुरण, दृष्टि हो तो देख लो।
उथले नहीं है गुणग्राही कूप गहरे ;
सागर के सार-भाग-सदृश तड़ाग है ।
नदियाँ वहाँ की अहा ! लीक आप अपनी ,
रोक नहीं पाये है पहाड आड़े जिनको ।
प्रस्तर-पटो पर तरंग-रंग रेखाएँ
खींचती है अक्षय-विचित्र-चित्र कब से !
एक बूँद भी उस चँदेल-खंड की सुधा
दिव्य कर सकती है भव्य भाव-सृष्टि को ।
चित्रकूट पर ही पड़ी थी दृष्टि राम की ,
त्यागा था उन्होने जब अपनी अयोध्या को !

श्रीयुत मदन वर्मा सदन सुकर्मों का ,
शौर्य में भी, वीर्य में भी, इन्द्र है महोवे का ।
संगर-विनोद, राग-रंग-मोद, दोनों में
एक-सा कुशल है कृती जो गुण-गौरवी ।

मन से वरुण है, कुबेर वह धन से ,
देता और भोगता है शूर दोनों हाथों से ;
रात में भी जागता है, सोती है सुखी प्रजा ।"

सुन कर चारण की बातें सिद्धराज को
ईर्ष्या हुई, किन्तु एक आकर्षण भी हुआ ।
इच्छा कर देखने की, साथ ही दिखाने की ,
वीर दल-बल से महोबे के लिए चला ।

सार्थक वसन्त-काल मधु या रसाल था,—
बौरे महुए थे वहाँ और आम मौरे थे !
फूले थे असंख्य फूल, भौरे सुध भूले थे ;
आ गई थी उष्णता खगों के कल-कंठों में ;
गन्ध छा गया था मन्द-शीतल-समीर में ;
लहरा रहे थे खेत सुन्दर सुनहले ।
गा रहे थे मग्न रखवाले-रखवालियाँ
गीत किसी वीर के, नहीं तो किसी प्रेमी के ;
वीरता में धीरता, गभीरता थी प्रेम में ।

ऋतुएँ प्रकृति की है, उत्सव पुरुष के ।
क्या क्या भाव मन मे उठे थे जयसिह के ,
चौकने की शक्ति भी नहीं थी स्तब्ध उसको ।
साँस-बस दीर्घ साँस-आती और जाती थी—
"होती कहीं रानकदे हाय ! ऐसी जोत्स्ना में ?"

आकर समीप एक रक्षक ने यो कहा—
"पृथ्वीनाथ, एक राज-पुरुष महोबे का
सेवा में उपस्थित है, आवश्यक कार्य से ।"
चौक पड़ा राजा, वह पास ही शिविर के ,
चाँदनी में घूमता था, एकाकी विचार में
मग्न; कुछ दूर दूर रक्षक थे थोड़े-से ।
आ आ कर एक ग्राम-गीत किसी खेत से
बरबस खींचे लिये जा रहा था उसको—
"मथुरा की नीति नई न्यारी, मधुवन की
प्रीति गई सारी ।"* सावधान वह हो गया ।

---

*मथुरा की नीति नई न्यारी ,
मधुवन की प्रीति गई सारी ।

बोला—"एक दूसरा क्या देशल यहाँ भी है ?
कैसे यहाँ आया वह ?"
"देव, इसी ओर से
आ रहा था सेवा में, अचानक ही देख के
ठहर गया है यहीं। कहता है, देव के
दर्शन बहुत दिन पूर्व उसे हो चुके।
एक बार देख कौन भूले महाराज को ?"
भाले पर दृष्टि डाल, निज को सँभाल के,
बोला सिद्धराज—"उसे आने दो, अकेला ही।"

आगत था एक प्रौढ़ वीर और साहसी ;
धोती घुटनों के तले, ऊपर अँगरखी ;
रिक्त कर, किन्तु दोनों ओर कटि-बन्ध में
बाँधे था कृपाण दो दो; सिर पर पगड़ी ;
तिरक गये थे कुछ बाल डाढ़ी-मूछों के ;
तो भी गौर चर्म चिकना था, तना एक-सा।
राजा के समक्ष अनुरूप राज मंत्री-सा
जान पड़ा योद्धा; कुछ झुक कर उसने,

एक हाथ माथे पर रख, मुजरा किया।
कर कुछ ऊँचा कर स्वीकृति दी राजा ने;
पूछा—"तुम कौन और कैसे यहाँ आये हो ?"
"मै हूँ महाराज, गृह-सचिव महोबे का,
स्वामी की कृपा ही बड़ी सेवक की योग्यता।
दूर से पधारे आप, दर्शनार्थ आया मै;
कहते मुझे है चैत्र वर्मा वेत्रवन्ती का।
रीते हाथ मिलते नहीं है लोग राजा से,
लीजे यह खड्ग भेंट !" कह कर भट ने
दाई ओर वाली असि, पर्त्तलो को छोड़ के
कोष के समेत खींच भूपति को भेट की।
वाम कर मे ले नृप भाला बड़ा अपना,
दक्षिण मे खड्ग लेके विस्मित-सा बोला यो—
"शस्त्र सौप देना इसे समझूँ तुम्हारा मै ?"
"यह रहा मेरा खड्ग, मेरे वाम पार्श्व में।"
"दीखता मुझे है वह, यह असि किसकी ?"
"आपकी ही।"
"मेरी ? मिली कैसे यह तुमको ?"

"राज-जननी ने मुझे दी थी कृपा करके,
जब मैं गया था दर्शनार्थ सोमनाथ के—
निज जननी के साथ; और महाराज ने
मुक्ति दी थी आप यात्रियों को तीर्थ-कर से।
बहुत दिनों की बात, किन्तु इस असि को
देख कर जान पड़ती है अभी कल की।"
ध्यान आया राजा को, कहा था राजमाता ने।
"वे हो तुम ? लौटा क्यों रहे हो अब इसको ?"
"धृष्टता क्षमा हो देव, कौन जाने, कल क्या ?—
वैर किंवा प्रेम ? यदि वैर ही हो भाग्य में,
तो क्यों आपकी ही असि आपके विरुद्ध लूँ ?
मैं ने सदा आदर के साथ इसे रक्खा है
और मान-गौरव दिया है मुझे इसने।
किन्तु यही अच्छा आज जान पड़ा मुझको,
लौट कर जाय यह आपकी ही सेवा में।
हम भी निहत्थे नहीं प्रभु के प्रसाद से,
सार है हमारी असि में भी और धार भी।"
"उचित यही तो वीर! अन्यथा क्यों आता मैं ?

काटे कितना हो सार, खेत किन्तु मेरा ही ;
जीता नहीं कोई कभी वैर कर मुझसे।"
"प्रेम से ही हारेगे हमारे महाराज तो।"
"किन्तु वैर किवा प्रेम, उनको अभीष्ट क्या ?"
"वे तो आतिथेय है, अतिथि की जो इच्छा हो,
वाध्य क्यो न होगे वे समर्थ वही देने को ?"
"प्रस्तुत है वे क्या जूझने के लिए मुझसे ?"
"रहना ही पड़ता है प्रस्तुत सभी कहीं
नित्य मरने के लिये, जन्मधारी मात्र को ;
जूझने में फिर भी शुभाशा है विजय की।"
थोड़ी देर मौन रह बोला फिर राजा यों—
"गर्व और विनय इकट्ठे हुए तुम में—
वीर, मै प्रसन्न हुआ, वैर नहीं, प्रेम ही
लूँगा उनसे मैं।"

"सिद्धराज के ही योग्य है
इतनी रसालता, विशालता हृदय की।
ववेरक-जिष्णु विजयी है सज्जनो के भी ;
शत्रुजयी जानते है मित्रता का मूल्य भी।

पाटन-महोबा मिल और भी महान हो,
किन्तु महाराज, लुट जाऊँ मैं न बीच में।
मेरा तो कृपण-धन है यह कृपाण ही,
मेरे लिए प्राण से भी मूल्य बड़ा इसका।"
लौटा दिया खड्ग उसे हँस जयसिंह ने,
सिर से लगा के उसे बोला चैत्रवर्मा यों—
"मेरे लिए दुगना महत्व आज इसका,
निज नरनाथ को ही देख जानता था मैं—
आपके करों में स्पर्श-मणि का प्रभाव है।"
"वीर, यह जानने को उत्सुक मैं फिर भी—
क्या कहा उन्होंने, यहाँ आया सुन मुझको?"
"आपस में बैठ लोग क्या क्या नहीं कहते?
व्यक्तिगत बातें क्या समष्टिगत होती हैं?"
"झूठ नहीं बोले तुम सत्य को छिपा के भी;
तुमने सुयोग्यता से अपनी परीक्षा दी।
मित्र हो चुका हूँ; अब अनख न मानूँगा;
देता हूँ वचन, कहो, सुनके क्या बोले वे?"
"यदि धन माँगे एक कार्पटिक, ठीक है;

दे दो कुछ, धन से बड़ा है मूल्य जन का।
यदि रन माँगे वह, तो भी ठीक; अब के
रंग से नहीं तो रक्त से ही निज होली हो!"
यह कह के वे गये राज-उपवन में ;
सुमन-समान मन निर्मल था उनका।"

हो गई थी भृकुटी कुटिल जयसिंह की ,
किन्तु चढ़ा चाप-सा उतार लिया उसने।
क्षण भर मौन रह बोला वह विक्रमी—
"जो हो, राग-रंग ही हो होली के प्रसंग में ;
भंग न हो, उत्सव उन्हींका नहीं, मेरा भी।"
"देव, यही भाव है हमारे महाराज का ;
गर्व-योग्य पर्व आप लोगों के मिलन का ;
आवे वह योग शीघ्र।"
"अच्छा कल" कहके
राजा ने विदा दी स्नेह पूर्वक ही उसको।

रात चाहे जागते ही बीती साज-सज्जा में ,

पर दिन सुप्रभात प्रकटा महोबे में।
सारी पुरी स्वच्छ और सज्जित विशेष थी,
होकर नई-सी, नये आगत अतिथि के
स्वागत के अर्थ, बहु भाँति चौक पूर के,
कदली के खंभ रोप, मंगल-कलश ले,
बाँध नये तोरण, वितान बहु तान के,
सुन्दर पताकाएँ उड़ाके अन्तरिक्ष में,
भूमि पर पाँवड़े बिछा के राजमार्ग में,
उत्सुक खड़ी थी लिये बढ़ती उमंगों को!

हाथी पर बैठा सिद्धराज जयसिंह था;
घोड़ों पर साथ कुछ सैनिक चुने हुए
चारों ओर उसके थे। ऐसा भान होता था,
भाव मानों मूर्तिमान हो उठा था छन्द में;
विविध विभाव उसे दीप्त किये जाते थे।
पुर में प्रविष्ट वह तुष्ट हुआ देख के
आदर अकृत्रिम विशिष्ट वहाँ अपना!
दोनों ओर अट्टों से प्रसून-वृष्टि होती थी,

नागरो की पंक्तियाँ प्रणाम कर हर्ष से
जै जै कार करती थीं आथितेयातिथि का ;
गाती थीं सुगीत पुर-नारियाँ समय के।

स्थान भेंट का था उपवन के भवन में ,
जिसमे वसन्तोत्सव हो रहा था विधि से।
मदन सदेह, धनी-मानी था, महोवे का ,
अथवा सफल शौर्य भोगता था सम्पदा।
गण्य-मान्य पुरजन-परिजन संग ले
द्वार पर आके लिया उसने अतिथि को।
डील और शील में समान युग वन्धु-से
आज इस जन्म में मिले थे, उस जन्म के
बिछुड़े, कृतार्थ दोनो अपने को मानके।

बोला हँस सिद्धराज—"पृथिवी का प्राणी मै ,
आ गया हूँ आज इस नन्दन विपिन में !
आतुरी विचार यहाँ आते ही कहाँ गये ?
विस्मित हूँ।" सस्मित मदन वर्मा बोला यों—

"तो भी मै विजित से भी अधिक अधीन हूँ ;-
आप किसी भाव से पधारे हो न क्यों यहाँ,
मेरे तो अतिथि-देव होकर ही आये हैं।
किन्तु अति शिष्टाचार द्योतक है दूर का।
शूर मानता हूँ अपने को, शस्त्र लीजिए ;
वार करूँ रीते हाथ वीर पर कैसे मैं।"
यों कह उठा के पिचकारी एक सोने की
केसर के रंग-भरी, देके जयसिंह को,
दूसरी ले आप अविलम्ब धनी-धोरी ने
सररर धार छोड़ी ! अररर करके
उत्तर उचित सिद्धराज ने दिया उसे ;
भीग गये दोनों एक दूसरे के स्नेह में !

रंगों से भरे थे कुंड चारो ओर उनके ;
दोनों दल वालो ने दिखाया बल अपना ;
जीत थी उसीकी वहाँ, हार जहाँ जिसकी।
पुष्पचूर्ण-वृष्टि क्या ही सौरभ-विशिष्ट थी ;
धारायन्त्र शून्य को भी करते सचित्र थे !

मोड़ती हुई भी मुख, ग्रीवा-भंग करके,
छोड़ती अपांग शर अंगनाएँ नर्त्तकी।
सच्चा रंग किन्तु उनका था कंठ-राग में,
कुंठित-से स्तम्भित-से श्रोता सब हो गये।
शर का प्रहार रूढ़, मार गूढ़ स्वर की।
आहा! उस कूक में भी दूर—बड़ी दूर—से
आ रही थी कैसी एक हूक-सी विरह की।
मानो यह उत्सव का आयोजन इतना
होता भव में है वही दिव्य व्यथा पाने को!
गान सुनते हैं सभी, रागिणी तो रोती है,
सच्चे मोतियों के गुणी-ग्राहक हैं कितने?

भेट दूसरी थी अन्तरंग उन दोनों की।
बोला सिद्धराज—"सुखी जीवन के अर्थ मैं
देता हूँ बधाई बन्धु, आपको हृदय से।
कार्पटिक मात्र मैं तो, किन्तु मुझे आपसे
ईर्ष्या नहीं; अपना भटकना ही भाता है।"
"पाते हैं इसीमें आप गौरव विजय का।

किन्तु महाराज, मत भिन्न भिन्न होता है।
सुख है न जाने कहाँ, चाहे जहाँ मान लो,
मन अपना है और मानना भी अपना।
जितना मिला है मुझे, थोड़ा नहीं वह भी;
भोग लूँ उसीको क्यों न बैठ कर शान्ति से?"
"सोचिए तो किन्तु परिणाम इस शान्ति का?"
"पाप का भी अच्छा परिणाम प्रायश्चित्त है;
फिर भी शुभाशय सुनूँ मैं अभी आपका।"
"मैं तो चाहता हूँ एक राज्य, एकच्छत्र ही।"
"आपके ही योग्य यह उच्च अभिलाषा है;
किन्तु किया जाऊँ नहीं बाध्य जो किसीसे मैं,
तो सन्तुष्ट ही हूँ इसी अपनी अवस्था में।
लोभ तो अनन्त, क्षोभ कोई करे कितना।"
"तो क्या निज पूर्वजों का दिग्विजय व्यर्थ था?"
"सार्थक था वह तो अवश्य उनके लिए।
जानते थे ठीक वे ही देश-काल अपना;
रहती नहीं है सदा एक स्थिति लोक की।
होते उनमें भी कभी कोई दिग्विजेता थे;

हम तो सभी के सभी एकच्छत्र-योग्य है !
एक युग में हो एकतन्त्र कहीं होता है
और गणतन्त्र कहीं, जो भी जहाँ ठीक हो।"
"किन्तु यदि मै कहूँ, भले ही उपलक्ष ही
मानें उसे आप, चाहता हूँ एक शक्ति मै
आर्य-धन-धाम-धरा-धर्म के बचाने को ?
कब तक शान्ति-सुख-भोग यह आपका ?
जाय सुख-भोग, हाय ! योगक्षेम भी कहाँ—
लुंठक विदेशियों, विजातियों के रहते ?
शक गये, हूण गये, तो अब यवन है !
व्यक्तिगत कोई रहे चाहे जितना बड़ा ,
संघ में ही शक्ति, गति एक वही सबकी ।"
"मार्मिक है दृष्टि महाराज, अहा ! आपकी।
दीखता है किन्तु मुझे अब भी न जानें क्या !
हाय ! यह पाप इस पुण्य भूमि का ही है ,
मिट्टी की नहीं, जो बनी मानो स्वयं सोने की !
आयँगे ही आयँगे लुटेरे यहाँ; फिर भी
कौन तस्करो से डर दीन होना चाहेगा ?

तो क्या बर्बरों के लिए बर्बर हीं हम हों ?"
"धिक उस नरता को, बर्बर दलें जिसे !
क्षात्र-धर्म विधि ने बनाया है इसीलिए।"
"किन्तु क्षत्रियों की आज यादवों की गति है,
नष्ट हो रहे है हम आपस में जूझ के !
स्वप्न देखते है आप एक नर-राज्य का,
एक देव के भी यहाँ सौ सौ भाग हो चुके !
हर हर महादेव एक मन्त्र रहते,
कोई जय बोलता है मात्र सोमनाथ की ;
कोई महाकाल की तो कोई एकलिंग की ;
रह गये आप विश्वनाथ काशीनाथ ही !
एकच्छत्र धारण करेगा कौन, कहिए ?
आप मेरे बन्धु, किन्तु जूनागढ़ से भी क्या
कालिंजर-गोपाचल दुर्ग गये बीते है ?
क्या खंगार, अर्णोराज और नर वर्मा क्या,
सौ मे वही एक आन-बान बस अपनी ;
सब कुछ जाय, स्वयं कुछ भी न देंगे वे !
निश्चय बखानने के योग्य यह मान है ;

चरम-विकास जहाँ किन्तु वहीं ह्रास भी ।
सह्य नहीं अपनों की वाध्यता हमें, भले
सन्तति हमारी करे दूसरों की दासता !
होता यही दीख पड़ता है मुझे अन्त में ।
देते मणिधारियों को जन्म मणिधारी ही ;
नहीं नहीं, मुक्ताधर कुंजरों के जात भी
होते नहीं तात ! कभी मुक्ताधर ही सभी ;
तो भी कुलनाश यहाँ यों ही हुआ जा रहा ।
धर्मराज का भी एक राज्य खोया हमने ,
एकच्छत्र रक्खा चन्द्रगुप्त ने, अशोक ने ,
विक्रम ने, हर्ष ने भी, किन्तु व्यक्तिगत ही ।
देश है विशाल, दूर दूर एक लोक-सा ,
भार एक क्षत्रियों को, ईर्ष्या-द्वेष उनमें ;
और लोभ कौन बड़ा होगा भला राज्य से ?
संकट में क्षात्रधर्म धारें अन्य वर्ण भी ,
किन्तु जिन्हें शिक्षा नहीं, युद्ध क्या करेंगे वे ?
शस्त्र जो धरेंगे तो मरेंगे स्वयं उनसे ।
आपद्धर्म की भी एक योग्यता तो होती है ;

हमने प्रजा में क्या किया है उसके लिए ?
देते हैं स्वधर्म-दीक्षा बल से भी दूसरे ,
किन्तु वीर-धर्म यहाँ केवल हमारा है ;
ठेका ले लिया है ठाकुरों ने ही ठसक का !

दूसरी दिशा में उदासीन हम ही रहे ;
'कोई क्यों न ले ले राज्य, छोड़ दिया राजा ने !'
जागता है ज्ञान-मन्त्र बहुधा श्मशान में !
होगा उपराग-सा अकाल का विराग भी ;
कितने समर्थ कुल लोप हुए इससे ।
योग्य व्यष्टियों के बिना गति क्या समष्टि की ?
ऐसे मुक्त जात देंगे बन्धन ही जाति को।
जीना शत वर्ष कर्म करके कठिन है ;
मुक्ति मर के भी मिलती है क्या सहज में ?
हिंसा मिटे, बुद्ध-महावीर की दया बढ़े ,
किन्तु आत्मरक्षा हमें करनी पड़ेगी ही ;
शूरता भी क्रूरता न मानी जाय अन्त में ;
धार्मिक विरोध हमें दुर्बल बना रहे ।

यवन बसे है यहाँ आकर कहीं कहीं,
उनको हमारा धर्म रहने दे, वे उसे
रहने न देंगे सह-धर्मियो के पक्ष में।
ऊँचे हम अब भी, परन्तु नीच मानना
औरो को हमारा, हमें नीचा दिखलायगा।
भाग्य से हमारी धर्म-भाषा एक अब भी,
किन्तु तब भी हैं हम दूर दूर बिछड़े।
आया नहीं सच्चा एक-राज्य-योग अब भी।

तो भी मै निराश नहीं, आप जैसे विजयी
वीर और धीर जब जन्म यहाँ लेते है।
सोमनाथ-मन्दिर विधर्मियो ने ढा दिया,
किन्तु वह पूर्व मे भी पुष्ट खड़ा आज है।
देना पड़ा और देना होगा हमें आगे जो,
क्या कुछ मिलेगा नहीं बदले में उसके?
संजीवनी शुक्र की है उन असुरो मे भी,
और मय जैसी मंजु-शिल्पकला उनमें।
आया अलक्षेन्द्र यहाँ, वीर पुरु हारा भी,

रहते हुए भी पुरुषार्थ, दैव-योग से।
किन्तु अन्त में क्या हुआ ? चन्द्रोदय अपना
मूर्तिमन्त नव्य यश। नाता जुड़ा उनसे,
ज्ञान, कर्म और कला-कौशल थे जिनमें;
सब भर पाया नहीं अन्त में क्या हमने ?

होंगे युग-पुरुष स्वयं ही युग युग में।
देना पड़े मूल्य हमें चाहे जितना बड़ा,
हम यवनों से भी ठगाये नहीं जायँगे।
आर्य-भूमि अन्त मे रहेगी आर्य-भूमि ही;
आकर मिलेगी यहीं संस्कृतियाँ सबकी;
होगा एक विश्व-तीर्थ भारत ही भूमि का।"

देखता था सिद्धराज विस्मय से, श्रद्धा से,
भोगी है मदनवर्मा किंवा एक योगी है ?